"श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला" का पुष्प नं० १

* सत्यार्थ-दर्पण *

अर्थात्

सत्यार्थप्रकाश के १२ वें समुल्लास पर विचार ।

—*—

क्या मुझे आज्ञा है कि मैं आपके
सत्यार्थप्रकाश की त्रुटि आपके
सामने रक्खूं ?
यदि हां,
तो लीजिये
आपके कर-कमलो में
यह मनोहर भेंट है । आप इसको शान्ति
और प्रेम के साथ अवलोकन कर
इस पर विचार कीजिये ।

——o——

द्वितीयावृत्ति १००० } सन् १९३७ ई० { मूल्य ~~बारह आना~~

श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला

अम्बाला छावनी।

प्रकाशक तथा मुद्रक :—

अजितकुमार जैन शास्त्री,

"अकलंक" प्रिन्टिङ्ग प्रेस,

मुलतान शहर।

विषय-सूची

नं०	विषय	पृष्ठ

प्रथमावृत्ति का

आद्य वक्तव्य

प्यारे न्यायनिष्ठ आर्य महाशयो! सत्यार्थप्रकाश के १२ वें समुल्लास का सच्चा समाचार आप लोगों के समक्ष रखने का विचार मेरे हृदय में पहले से था, किन्तु उस भावना का अबतक प्रादुर्भावक निमित्त नहीं उपलब्ध हुआ था। यह जानकर कि मथुरा मे दयानन्द शताब्दी का आर्य महोत्सव समारोह से होने वाला है। अवसर अनुकूल देख तथा सौभाग्यशाली, उपकार-रत श्रीमान् ला० देवीसहाय जी रईस बैंकर, फिरोजपुर छावनी की प्रेरणा पाकर आपके नेत्रों तक अपना हृदयभाव पहुचाने के लिये कुछ पंक्तियाँ लिखकर तैयार की है। आपके महोत्सव समाचार से अज्ञात रहने के कारण यह केवल ३०-४० दिनके परिश्रमका फल है, अतः प्रमाण में उपस्थित किये गये ग्रन्थों के पृष्ठ आदि का नम्बर देने आदि में अशुद्धि रह जाना संभव है; आप उसे शुद्ध करलें और त्रुटि पर ध्यान न देवें, ऐसी प्रार्थना है।

संसार मे मानव-जीवनका सार तथा बुद्धिका उपयोग यही है कि इस लोक परलोक बन्धु धर्मकी सत्यता खोज कर सत्यधर्म में प्रवेश करे तथा यदि अपनी सत्य बात पर किसी ने भ्रमवश आक्षेप किया हो, तो उसे शान्ति और प्रेमके साथ हटाने का यत्न करे। इन्हीं दो बातों पर उद्देशानुसार आवश्यक प्रकाश

डालने के लिये यह पुस्तक लिखी गई है। आप लोग इसे प्रेम और धैर्यके साथ अवलोकन करें। यदि किसी विषय में मेरी भूल जान पडे, तो सूचित करें, उचित उपाय किया जायगा। इस पुस्तक-लेखन का अभिप्राय आर्यसमाजके सिद्धान्तों पर आक्रमण करना नहीं है। किन्तु सत्यार्थप्रकाश के बारहवें समुल्लास के अन्दर स्वामी जीने जो बिना जाने जैनधर्म के ऊपर अनुचित आक्षेप किये हैं, उनका उत्तर प्रेमवश देना है।

पुस्तक के लिखने में मूल उत्पादक सहायता तो श्रीमान नर-रत्न ला० देवीसहाय जी रईस फीरोजपुर की है। तदनन्तर प्रशंसनीय सहायता यहां (डेरागाजीखान) की आर्यसमाज के मन्त्री सज्जनोत्तम सत्यभूषण जी वकील की है, जिन्होंने हमको अपने पुस्तकालय से वेदादि अनेक ग्रंथ अवलोकनार्थ देनेका कष्ट स्वीकार किया है। इसके बाद श्रीमान् गण्यमान्य विद्वान पं० वासुदेव जी विद्यालंकार (आपने कांगड़ी गुरुकुल मे २०-२१ वर्ष अध्ययन किया है) का आभार माने विना भी नहीं रहा जाता; क्यों कि आपने वेदादि विषयक अनेक ज्ञातव्य विषयोंमें सहायता प्रदान कर अनुगृहीत किया है।

विनयान्वित—

अजितकुमार जैन, शास्त्री

चावली (आगरा)—(वर्तमान) मुलतान।

[पौष सुदी १३ वीर सं० २४५१ सन १९२५]

द्वितियावृत्ति का

आद्य वक्तव्य

आजसे लगभग साढ़े पांच वर्ष पहिले मथुरा नगर में 'दयानन्द शताब्दी का बहुत भारी सम्मेलन हुआ था। वहां पर आर्यसमाजको जैनधर्म के समीचीन सिद्धान्त से परिचित कराने के लिये यह सत्यार्थदर्पण डेरागाज़ीखान में लिखा गया था। दो तीन मास पीछे ही इसके दूसरे एडीशन की बहुत आवश्यकता उपस्थित हुई थी, तदनुसार द्वितीय संस्करण के लिये इस पुस्तक में सुधार भी किया गया था, किन्तु कारणवश प्रेस में गई हुई पुस्तक वापिस लौट आई।

अब पांच वर्ष पीछे श्रीमान् मित्रवर पं० राजेन्द्र कुमार जी न्यायतीर्थ अम्बाला छावनी तथा श्रीमान प्रियवर ला० रघुनन्दन प्रसाद जी रईस अमरोहा की प्रेरणा से फिर इसे दूसरे एडीशन के लिये तैयार किया है।

पहले संस्करण से इस दूसरे संस्करण मे अनेक विषयों का सुधार किया गया है और कुछ नवीन विषय बढ़ाये भी गये हैं।

इस तैयारी के लिये श्रीमान् मान्यवर पण्डित मंगलसेन जी वेदविशारद तथा श्री प० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ अम्बाला ने निरुक्त योगदर्शन, वेदभाष्य आदि ग्रन्थ भेजकर सहायता प्रदान की है; एतदर्थ आपको धन्यवाद है।

ग्रन्थ अधिक बढ़ जाने से हमने दो-तीन विषय छोड़ दिये हैं और वेदों के कुछ प्रमाण अनुचित समझ कर नहीं लिखे हैं।

आर्यसमाजी भाइयों को तथा हमारे जैन भाइयों को यह पुस्तक शान्ति से प्रेमपूर्वक अवलोकन करनी चाहिये।

इस पुस्तक में जहां कहीं जैन सिद्धान्तका उल्लेख आया है, वह दिगम्बर जैन सिद्धान्तका ही उल्लेख समझना चाहिये। इसीका उत्तरदायित्व लेखक पर है।

निवेदक—

अजितकुमार जैन शास्त्री,

चावली (आगरा)

(वर्तमान) मुलतान नगर।

भाद्रपद वदी ५, वीर सं० २४५६—ता० १४-८-३६

दो शब्द

सत्यार्थ दर्पण का दूसरा संस्करण समाप्त हो गया था और इस पुस्तक को मंगाने के लिये अनेक स्थानों से मांग आ रही थी तदनुसार सत्यार्थ दर्पण का तीसरा संस्करण प्रकाशित किया गया है। इसमें कहीं कहीं पर कुछ घटाया बढ़ाया गया है। एक दो प्रकरणों को कुछ अधिक बढ़ाने की इच्छा थी किन्तु समयाभाव से वैसा न हो सका।

श्री भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ ने जिस देवी के नाम पर अपनी ट्रैक्टमाला चालू की हुई है वह स्वर्गीय श्री चम्पावती देवी केवल विदुषी और धर्मपरायणा ही नहीं थी, किन्तु एक होनहार समाज सेविका भी थी। आपका जन्म अम्बाला में ला० शिब्बामल जी के यहाँ हुआ था। बचपन में आपने साधारण बालिकाओं की तरह शिक्षा पाई। आपका विवाह तेरह वर्ष की आयुमें देहरादून निवासी ला० सज्जनकुमार जी के सुपुत्र बा० सुमतिप्रसाद जी के साथ हुआ था। आपको गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते केवल सात ही वर्ष हुये थे कि आपके पतिदेव का स्वर्गवास होगया। जब आप पर यह विपत्ति पड़ी तब आपके पिता ला० शिब्बामल जी आपको यात्रार्थ ले गये। इस ही अवसर पर आपको बम्बई जाने का अवसर भी मिला। जब आप बम्बई गईं तब आपने श्राविकाश्रम में बाइयों को अध्ययन करते देखा। बाइयों को अध्ययन करते देख कर आपके

मन मे भी विद्याभ्यास की उत्कट इच्छा जागृत होगई। आपके पूज्य पिता जी ने आपकी इस सदिच्छा को देख कर प्रसन्नता प्रकट की और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीको आपके अध्यापनार्थ अम्बाला बुला लिया। आपने अपने जीवन में व्याकरण और साहित्य के अतिरिक्त धर्मशास्त्र मे सर्वार्थसिद्धि गोमट्टसार और राजवार्तिक आदि बडे २ ग्रन्थों के अध्ययन के साथ २ न्यायशास्त्र का अध्ययन भी किया श्रीमान पं० राजेन्द्रकुमार जी से पढ़ कर कलकत्ता विश्वविद्यालय की न्याय प्रथमा और मध्यमा परीक्षा भी दी जिसमे कि आप मध्यम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुईं।

जिस प्रकार आपने अपने ज्ञान को दिनों दिन बढ़ाया। उस ही प्रकार चारित्र को भी। आपने अन्य बातो के त्याग के साथ ही साथ अष्टमूलगुण और पञ्चाणुव्रत को भी धारण किया था, रहन सहन भी आपका बहुत ही सादा था। स्वदेशी वस्त्र विशेष कर खद्दर ही आप व्यवहार में लाती थीं।

आपको धर्म पर अचल श्रद्धा थी, जैसा कि आपके जीवन के अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है।

अपनी विद्या और चारित्र की उन्नति के साथ ही साथ आपने सामाजिक सुधार की तरफ भी अपना हाथ बढ़ाया था और यह आपके परिश्रमका ही फल है कि जो सहारनपुर वगैरह की अभी तक कन्याशालायें स्त्री शिक्षा का प्रचार कर रही हैं।

नश्वर शरीर को छोड़ने से एक माह पूर्व आपने अपनी

सम्पूर्ण सम्पत्ति जो कि क़रीब सात हज़ार के थी धर्मार्थ अर्पण कर दी। अतः आपका दानी होना भी स्पष्ट है। कहने का मतलब है कि स्वर्गीया विदुषी अनेक गुण सम्पन्न हो कर समाज की सच्ची सेविका थी, इसही बात को ध्यानमें रख कर अम्बाला मे उनके स्मरणार्थ यह ग्रन्थमाला कायम की गई थी। उस के कुछ ही दिन बाद अम्बाला आर्यसमाजसे एक शास्त्रार्थ हुआ था; तब जैन शास्त्रार्थ सङ्घ की स्थापना की गई थी। सङ्घ का कार्य दिनोदिन बढ़ता गया और यह आवश्यक समझा गया कि इस का एक प्रकाशनविभाग अवश्य होना चाहिये। तब पुस्तकमाला की कमेटी की स्वीकारता से चम्पावती जैन पुस्तकमाला को अब सङ्घ का प्रकाशन विभाग बना लिया गया है।

निवेदक—

अजितकुमार जैन,

मन्त्री—, प्रकाशन विभाग भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ

अम्बाला छावनी।

* ॐ *

श्री महावीराय नम

—सत्यार्थ दर्पण—
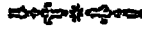
सुध्यानमें लवलीन हो, जब घातिया चारों हने।
सर्वज्ञबोध, विरागताको, पा लिया तब आपने॥
उपदेश दे हितकर, अनेकों भव्य निज सम कर लिये
रवि-ज्ञान-किरण प्रकाश डालो, वीर! मेरे भी हिये

प्रिय मित्र महाशयो! हमको पूर्ण आशा है कि जिस प्रकार आप लोग नामसे 'आर्य' हैं उसी प्रकार सत्य, असत्य विवेक की खोज में तथा लकीर के फकीर मार्ग को छोड़-कर सत्य बातको स्वीकार करने में भी सच्चे आर्य हैं। हमको पूरा विश्वास है कि आप लोग निष्पक्ष भावसे शांति और प्रेमके साथ सत्यार्थ प्रकाशकी त्रुटियों पर विचार कर सकते हैं, एवं साथ ही ऐसा भी निश्चय है कि आप हमारे लिखे हुये इन चार अक्षरों को प्रेमके साथ अवलोकन करेंगे। इसी कारण हमने अपना मनोभाव आपके सामने रखने के लिये अपना कुछ समय लगाया है तथा आप लोगों को अपने

अनमोल समयका कुछ हिस्सा इस पुस्तक के देखने में खर्च करने के लिये कष्ट किया है।

मान्यवर सज्जनो! आप के सन्मुख अपने विचार उपस्थित करने के पहले यह प्रकट कर देना आवश्यक दीखता है कि हमारा लिखना आपके माननीय स्वामी दयानन्द जी सरस्वती रचित सत्यार्थ प्रकाश के बारहवें समुल्लास के विषय में होगा। जबकि प्रत्येक मनुष्य को किसी भी विषय में अपने सत्य विचार प्रगट करने का अधिकार है, तो निःसन्देह सत्यार्थ प्रकाश के विषय में उचित उल्लेख करने का हमारा भी अधिकार आप अवश्य स्वीकारकरेंगे।

विचारशील मित्रो! इस अभागे परतन्त्र भारतवर्ष में यद्यपि यवन-साम्राज्य से पहले जमाने में अनेक गणनीय ऋषि महर्षि, तात्विक विद्वान और दार्शनिकों ने अवतार लेकर समय समय पर अच्छी जागृति की थी, किन्तु पीछे यवन-राज्य आदि कारणों से वह प्रकाश फीका पडता गया और अज्ञान-अन्धकार फैलता गया। यवन-साम्राज्यका अन्त होने पर जब अंग्रेजी राज्य स्थापित हुआ, तब फिर कुछ जागृति के साधन दिखाई देने लगे। इसी अंग्रेजी राज्य में आजसे ५०-६० वर्ष पहले स्वामी दयानन्द जी सरस्वती प्रकाश में आये। आपने विद्या प्रचार तथा धर्म प्रचारका बहुत उद्योग किया, किन्तु आप समझते हैं कि मनुष्य से जब छोटे मोटे कार्यों में भूल होजाती है तो एक विशाल गहन कार्य में भूल होजाना साधारण बात है

तदनुसार स्वामी दयानन्द जी भी भूल सकते हैं, इस बात को तो आप भी मान सकते हैं। स्वामी जी जैनधर्म के समझने तथा उसकी समालोचना करने में बहुत भूले हैं। उन्हें जैन-सिद्धान्त की साधारण मोटी बातें भी नहीं मालूम हो पाईं। इसी कारण वे सत्यार्थप्रकाश में जैनधर्म के विषय में साधारण बातें तक भी बहुत कुछ गलत लिख गये हैं। उन्हीं गलतियों को हम यहाँ आपके सामने रखते हैं। आप इसको शान्ति से अवलोकन करें।

विचारशील सज्जनो! इस भारतवर्ष में अथवा इस भूमण्डल में अनेक दर्शनोंका अवतार हुआ है, जिनमें से वर्तमान समयमें कुछ जीवित दशामें एवं कुछ मृतप्राय दृष्टिगोचर होरहे हैं। इन दर्शनों के साहित्यको यदि आपने अवलोकन किया हो अथवा अवलोकन करने का कष्ट उठावें तो आपको मालूम पडेगा कि जितना विशाल साहित्य जैन दर्शनका है, उतना विशाल अन्य किसी भी दर्शनका नहीं है। अपने मन्तव्य के प्रत्येक विषय पर जैनदार्शनिकों ने अनेक महान ग्रन्थोंकी मनोहर रचना इस ढगसे की है, जिसकी समानता का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। यद्यपि विधर्मी दुराशय राजाओ ने तथा राजशक्ति का सहारा पाये हुये अनेक अजैन विद्वानों ने हजारों ग्रथो का कलेवर अग्नि के समर्पण कर दिया, और सैकड़ों ग्रन्थभण्डार आपत्ति समय में अरक्षित रहने के कारण अपने ग्रन्थ रत्नो को

कृमिकीट, शर्दी आदिसे न बचा सके, किन्तु फिर भी बचा हुआ जैनसाहित्य साहित्यसंसार में शिरोमणि होरहा है। जैनग्रन्थ जिस प्रकार दार्शनिक विषय पर हजारों की सख्या में है, उसी प्रकार न्याय, व्याकरण, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, मन्त्र, नीति, राजनीति आदि प्रत्येक विषय पर एकसे एक उत्तम अनूठे ग्रंथ मौजूद हैं। इसी कारण जो विद्वान जैनधर्मका परिचय प्राप्त करना चाहैं, वे केवल २-१ ग्रथो से ही समूचे जैनधर्म का चोज नहीं निकाल सकते हैं। उन्हें जिस प्रकार कमसे कम १०-५ जैनग्रंथ देखनेकी आवश्यकता है, तदनुसार उनका अभिप्राय समझने के लिये जैन विद्वानो का सहारा लेना भी आवश्यक है; क्योंकि ऐसा किये विना अनेक पारिभाषिक शब्दों के विषय में नियमसे भूल खानी पड़ती है-चाहे वह कैसा ही प्रतिभाशाली वैयाकरण और कवीश्वर ही क्यों न हो। इन्हीं दो कारणो के अभाव से स्वामी जी को जैनधर्मका असली मर्म प्राप्त न हो सका। प्रथम तो उन्होंने केवल श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ही ग्रन्थों को देखा और वे भी केवल दो. प्रकरण—रत्नाकर, तथा रत्नसार। अब विचारिये, इतने मात्रमे जैनधर्म की क्या वास्तविक समालोचना हो सकती है? स्वामी जी यदि दिगम्बर सम्प्रदाय के भी १०-५ ग्रन्थ देख लेते, तो हमारी सम्मति में तो स्वामी जी द्वारा सत्यार्थ-प्रकाश में जैनधर्मके के बारे में इतना गलत लिखा जाना कतई तौर पर असम्भव ही था।

स्वामी जी के इस आक्षेप का हमें कोई आधार ही नहीं मिलता कि जैनी लोग अपने ग्रन्थ अजैन विद्वानों को नहीं दिखाना चाहते। जो अजैन विद्वान जैनग्रन्थों को देखना चाहें, उन के लिये ग्रन्थावलोकन का दरवाज़ा सदा खुला है. वे बड़े शौकसे आकर अथवा मूल्य से मंगा कर देख सकते है। अस्तु—

इस पुस्तक में जो सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ आदि उल्लिखित हैं, वे १६ वे पर्डाशन (संस्करण) के सत्यार्थप्रकाश के हैं।

(१)

जैनधर्म को नास्तिक कहना वज्र भूल है।

प्रियवर महानुभावो! आप लोगों ने यदि जैनशास्त्रों का अवलोकन न भी किया हो, तो भी आप को जैनों के रहन-सहन से इतना तो अवश्य ज्ञान होगा कि जैन लोग प्रायः अपने जीवन को पाप-कृत्यों से बचाने के लिये सदैव सचेत रहते हैं। अहिंसाधर्म को प्राणपण से निभाने का उद्यम करते है, मांसभक्षण, मदिरापान आदि दुराचारों से उन की आत्मा पूर्ण विरक्त रहती है; क्योंकि वे इन कार्यों के करने से परलोक में हीन हीन जीवन का प्राप्त होना मानते हैं। पाप कर्मों से छुटकारा पाकर पुण्यलाभ के लिये वे अपने पूज्य परमात्मा का तथा गुरु का पूजन सत्कार भी करते हैं। उन का सदाचार

आहार विहार अन्य जनता के सम्मुख प्राय' महत्व-पूर्ण रहता है। जैनजनसमुदाय का आचरण देखते हुये कोई भी बुद्धि-मान पुरुष उन्हें नास्तिक कहने के लिये तैयार नहीं हो सकता। किन्तु हम को खेद है कि स्वामी दयानन्द जी ने ऐसी भारी भूल क्यों की कि जैनधर्म को उन्हों ने सत्यार्थप्रकाश में नास्तिकधर्म लिख डाला? यद्यपि उन्हों ने उसे नास्तिक कह देने का कुछ कारण नहीं दिखाया है, किन्तु फिर भी हम उन के इस भ्रम को अनेक तरह से असत्य ठहराते हैं। प्रथम ही व्याकरण के अनुसार विचार कीजिये कि व्याकरण प्रणेता विद्वान् नास्तिक शब्द को किस वाच्य के लिये तयार करते हैं —

पुरातन वैयाकरण श्रीशाकटायनाचार्य जी इस शब्द की सिद्धि के लिये शाकटायनव्याकरण में सूत्र लिखते हैं—"दैष्टि-कास्तिकनास्तिक" (३।२६१)। इस सूत्रके ऊपर वृत्तिकार-श्री अभयचन्द्र जी सूरिने वृत्ति इस प्रकार की है कि अस्ति परलोकादिमतिरस्य आस्तिक। तद्विपरीतो नास्तिक अर्थात-परलोक, पुण्य-पाप आदि है, ऐसे विचार वाला पुरुष आस्तिक और उससे विपरीत मानने वाला मनुष्य नास्तिक है।

पाणिनीय व्याकरण के जन्मदाता श्री पाणिनिआचार्य इस शब्दके लिये 'अस्तिनास्ति दिष्ट मतिः" (४।४। ६०) ऐसा सूत्र बनाते हैं। कौमदीकार श्री भट्टोजिदीक्षित ने इस

सूत्रकी वृत्ति यों लिखी है--"तदस्येत्यत्र । अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः । नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः ।" यानी परलोक को मानने वाला पुरुष आस्तिक और परलोक को न मानने वाला नास्तिक होता है।

हेम व्याकरण के रचयिता हेमचन्द्राचार्य इस शब्द को व्युत्पन्न करने के लिए ऐसा लिखते हैं- "नास्तिकास्तिकदैष्टिकम् (६।४।६६)। वृत्ति--एते शब्दास्तदस्येत्यस्मिन् विषये इकण प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। निपातनं रूढ्यर्थम्। नास्ति परलोकः पुण्यं पापमिति वा मतिरस्य नास्तिकः। अस्ति परलोकः पुण्यं पापमिति वा आस्तिकः!" यानी परलोक और पुण्य पाप का अस्तित्व स्वीकार करने वाला पुरुष आस्तिक कहा जाता है, और इस बात को न मानने वाला पुरुष नास्तिक होता है।

शब्द सिद्धि के विधाता वैयाकरण विद्वान् जबकि ऊपर लिखे तौर से अपना अभिप्राय प्रगट करते है, तब हमें जैन धर्म को नास्तिक पुकारने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता. क्यों कि जैन धर्म ने पुण्य पाप तथा परलोक के सिद्धान्त को बड़े विस्तार के साथ माना है। इस लिये व्याकरण के

अनुसार जैनधर्म आस्तिक ठहरता है।

अब कोषकारों की सम्मति भी देखना उचित है :—

'शब्दस्तोममहानिधि कोष' इन दोनों शब्दों के विषय मे यों कहता है कि आस्तिक त्रि०। परलोक इति मतिर्यस्य ठक्। परलोकास्तित्ववादिनि। पृ० १८५।

नास्तिक त्रि० नास्ति परलोकस्तत्साधनमदृष्टम् तत्साक्षीश्वरो वा इति मतिरस्य ठक्। परलोकाभाववादिनि तत्साधनादृष्टाभाववादिनि तत्साक्षिण ईश्वरस्यासत्त्ववादिनि चार्वाकादौ। पृष्ठ ६३४। भावार्थ—परलोक-स्वर्ग-नरक आदि को मानने वाला आस्तिक है और परलोक को उसके कारणभूत पुण्य पाप को और उसके साक्षी ईश्वर की सत्ता न माननेवाला नास्तिक कहलाता है। जैसे— चार्वाक आदि।

अभिधान चिन्तामणि में नास्तिक शब्द के पर्याय नाम इस तरह बताए है, "बार्हस्पत्यः, नास्तिकः, चार्वाकः, लौकायतिकः इति तन्नामानि।" (काण्ड ३ श्लोक ५२६) अर्थात बार्हस्पत्य, नास्तिक, चार्वाक और लौकायतिक ये चार नाम नास्तिक के हैं।

इस प्रकार शाब्दिक कोषों के प्रमाण भी जैनधर्म को नास्तिक

न बतला कर केवल चार्वाक मत को ही नास्तिक ठहराते हैं। इसी की पुष्टि में विद्वान ऐसा कहते हैं कि—

लौकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः॥
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भष्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।

यानी—चार्वाक लोग यों कहते हैं कि संसार में न तो जीव कोई पदार्थ है और न मोक्ष ही कोई वस्तु है। धर्म अधर्म नहीं है तथा पुण्य पापका अच्छा बुरा फल भी नहीं है। इस कारण जबतक जीवन है, तबतक खूब आनन्द उड़ाओ, भलेही उधार ले लेकर घी पीते रहो; क्योंकि यह भष्मीभूत शरीर फिर कहांसे आता है। जो कुछ हमें इन्द्रियों से अनुभव में आरहा है, लोक इतना ही है। अन्य नहीं।

मित्रो! नास्तिक मत का यह सिद्धान्त जैनधर्म को सर्वथा अमान्य है। जैनधर्म जीव, पुण्य, पाप, मोक्ष, परलोक आदि सब बातों को बहुत प्रामाणिकता के साथ मानता है। जैनधर्मानुयायियों के धर्म कर्म सम्बन्धी प्रायः सभी कार्य परलोक सुधारने के लिये ही हुआ करते हैं। अतः जैनधर्म नास्तिक कदापि नहीं कहा जा सकता।

दार्शनिकों के कथनानुसार भी नास्तिकमत चार्वाक का ही है, किसी भी दार्शनिक विद्वान् ने जैनधर्म को नास्तिक नहीं लिखा है। स्वयं जैन विद्वानोने प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्याय कुमुदचन्द्रोदय, अष्टसहस्री आदि ग्रंथों में नास्तिक मत का बहुत युक्तिपूर्वक खंडन किया है। इस कारण यों भी स्वामी जी जैनधर्म को नास्तिक बतलाने मे असमर्थ है।

यदि ईश्वर को सृष्टिकर्ता न मानने के कारण स्वामीजी ने जैनधर्म को नास्तिक लिखने का कष्ट उठाया हो, तो प्रथम तो इस उद्देश्यसे जैनधर्मको नास्तिक ठहराना पूर्ण निरंकुशता है, क्योंकि नास्तिक शब्द योगसे अथवा रूढिसे उसका वाचक नहीं ठहरता है। फिर भी यदि कुछ देर के लिये ऐसा मान लिया जाय तो भी इससे स्वामी जी का मनोरथ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिस सत्यार्थप्रकाश की नींव जमाने के लिये स्वामीजी ने सांख्यदर्शन से भारी सहायता ली है उस दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल जैनधर्म से भी चार पग आगे बढ़ते हुए ईश्वर की भी सत्ता नहीं मानते हैं। अतः वे महानास्तिक ठहरेंगे। किन्तु उन्हें न तो स्वामी जी ने नास्तिक बतलाया है और न किसी और विद्वान ने ही उन्हें नास्तिक कहा है। जब कि उनके साथ यह बात है, तो फिर स्वामी जी जैनधर्म को भी इस निमित्त का सहारा लेकर नास्तिक कैसे कहते हैं? ईश्वर इस संसार का कर्ता हो सकता है या नहीं? जैनधर्म का मन्तव्य

सत्य है या असत्य ? इस विषय का आगे विचार किया जायगा। इस कारण इस निमित्त में भी स्वामी जी असत्य ठहरते हैं।

कदाचित् मनुस्मृति के "नास्तिको वेदनिन्दक" इस वाक्य को ध्यान में रखकर जैनधर्म को नास्तिक लिख बैठे हों तो भी स्वामी जी से गलती हुई, क्योंकि प्रथम वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है सो जैनधर्म ज्ञान की निन्दा करता नहीं है प्रत्युत वह प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार वेदों को बड़े आदर से मानता है। यदि स्वामी जी ने वेद का अर्थ ऋक्, यजु., साम, अथर्व ही माना हो तो भी स्वामी जी ने अपना घर बिना देखे जैनधर्म को नास्तिक कह दिया, क्यों कि इस परिभाषा के अनुसार जितने भी वेदानुयायी हैं वे सभी नास्तिक ठहरते हैं, क्यों कि वे सभी वेदों के महा निन्दक हैं। एक वेदी लोग ऋग्वेद के सिवाय अन्य समस्त वेदों को, द्विवेदी लोग सामवेद अथर्ववेद को और त्रिवेदी सम्प्रदाय अथर्व वेद को अमान्य करके उनकी निन्दा करते हैं। स्वामी जी, सायण, महीधर भाष्यानुयायियों की और तदनुयायी स्वामी जी के भाष्य की घोर निन्दा करते हैं। पारस्परिक वेदार्थनिन्दा का ही यह उदाहरण है कि वेदों की सैकड़ो हजारों शाखायें चल पड़ीं जिससे कि यह निर्णय करना असंभव है कि किस सम्प्रदायका कहना सत्य है और किसका गलत जिन मदिरापान, मांसभक्षण, गोवध, अश्ववध, नरवध, द्यूतक्रीडा आदि बातों को निन्द्य और

अधर्मकृत्य समझा जाता है उन बातों का विधान वेदों में पाया जाता है, जिसको कि स्वामीजी भी अपने भाष्य में अनेकत्र लिख गए हैं, मारण, उच्चाटन, परस्त्रीहरण आदि के मंत्र वेदों में मौजूद हैं। क्या ऐसी बातों पर प्रकाश डालने वाले वेद बुद्धिमानों के लिए मान्य होने चाहिये ! स्वयं मनुजी मनुस्मृति में ऐसा लिखते हैं—

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥

(अध्याय ५ श्लोक ४४)

यानी—इस चराचर जगत् में जो वेदों द्वारा हिंसा बतलाई है, उस हिंसा को अहिंसा ही समझना चाहिये; क्योंकि धर्म वेद से ही प्रगट हुआ है।

पाठक महाशयो ! देख लीजिये मनुजी वेदों में हिंसा कृत्य बतला कर वेदों की कैसी अच्छी प्रशंसा कर रहे हैं । इत्यादि। इस तरह जब देखा जाता है तो कोई किसी रूप में और कोई किसी रूप मे वेदों की निन्दा करता पाया जाता है। कोई भी पुरुष या सम्प्रदाय ऐसा नहीं मिलता जो वेदों की निन्दा न करता हो इस कारण उपर्युक्त वाक्य का अर्थ "को वेदनिन्दकः नास्ति" यानी-इस संसार में वेदों का निन्दक कौन नहीं है अर्थात सभी हैं; ऐसा अर्थ करना पड़ता है। तथा जैनधर्म ने

वेदों को क्यों नहीं माना है, इसका खुलासा आगे किया जायगा,

अतः स्वामीजी इस बहाने से भी जैनधर्म पर "नास्तिक" शब्द की वाच्यता नहीं घटित कर सकते है। आप महाशयों को यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि जैनधर्म में ऐसी कोई भी निंद्य कलंकित बात नहीं है जिसके कारण कोई उसे नास्तिक मत ठहरा सके। न मालूम फिर भी स्वामीजी ने इतनी भारी भूल क्यों कर डाली ?

इस विषय में भारतवर्ष के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता राजा शिवप्रसादजी सितारेहिन्द (लेखक इतिहास तिमिरनाशक) अपने पत्र में लिखते हैं कि "चार्वाक (नास्तिक) और जैन से कुछ सबन्ध नहीं है। जैन को चार्वाक कहना ऐसा है जैसा स्वामी दयानन्दजी को मुसलमान कहना।"

इस कारण मित्रो ! चाहे जिस प्रकार विचारिये, जैनधर्म को नास्तिक करार देना अयुक्त सिद्ध होता है। स्वामीजी प्रारंभ में ही ऐसी वज्र भूल कर गए इसका आश्चर्य और खेद है।

[२]

ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है।

जैनधर्म का सिद्धान्त है कि यह संसार अनादिकाल से चला आया, अनन्त काल तक चला जायगा, यानी इसके प्रारंभका और अन्त का कोई भी समय नहीं हो सकता। जो पदार्थ इसके अन्दर मौजूद हैं वे न तो किसी खास समय में पैदा ही हुए

थे और न किसी समय मे उनकी सत्ता ही मिट सकती है। हां कारणों के अनुसार उनकी हालत अवश्य बदलती रहती है।

जैनधर्म के सिवाय प्रायः अन्य सभी धर्म जो कि ईश्वर को मानते है, ईश्वर को इस सृष्टि का बनानेवाला बतलाते हैं। इस मतभेद के कारण यद्यपि समय समय पर जैनधर्म को अनेक आपत्तियों का सामना करना पडा है, किन्तु फिर भी उसने अटल सिद्धान्त को जो नहीं छोड़ा है यह उसके लिये महत्व-दायक विषय है। अस्तु, स्वामी दयानन्दजी ने अन्य धर्मों के समान इस सृष्टि का रचयिता ईश्वर को स्वीकार किया है जिस का विस्तृत उल्लेख उन्होने सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में किया है तथा बारहवें समुल्लास मे भी उन्होने कई स्थानो पर ईश्र को सृष्टिकर्ता न मानना जैनधर्म की खास भूल बतलाने का चेष्टा की है। इस विषय में स्वामीजी का लिखना सत्य है, अथवा जैनधर्म का मानना यथार्थ है, इस विषय को हम आपके सामने रखते है। आप उस पर पूर्ण विचार करें—

कर्तावादियों का एवं स्वामीजी का इस विषय मे यह कहना कि यह पृथ्वी, पहाड, सूर्य, वृक्ष आदि स्वरूप जगत किसी बुद्धि मान कर्त्ता ने बनाया है, क्यो कि यह जगत कार्यरूप है, जैसे कि वस्त्र; घडा, घड़ी वगैरह पदार्थ। और चू कि इस विश्व जगत बनाने की शक्ति किसी अन्य बुद्धिमान मे है नहीं, अत' इसका बनाने वाला सर्वशक्तिमान् ईश्वर है, जो कि निराकार, सर्वव्यापक

अशरीर, आनन्दस्वरूप, सर्वज्ञ, दयालु और न्यायकारी है। इसके सिवाय स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के २१८ वें पृष्ठ पर जगत्के उपादान कारण प्रकृति को और ईश्वर को तथा जीव को अनादि बतलाया है। अब हम स्वामीजी के इस कथन का कई तरह से निराकरण करते हैं। प्रथम ही न्यायके अनुसार लीजिये—

सब से पहले तो ऊपर के अनुमान में असिद्ध दोष आता है, क्योंकि सूर्य, चन्द्र, नदी, जङ्गल आदि पदार्थ आकाश के समान अनादिकाल से चले आ रहे हैं, किसी भी प्रकार उनका किसी विशेष समय में बन कर तयार होना सिद्ध नहीं होता है, अतः उनमें कार्यत्व हेतु का अभाव है।

जो कार्य होते हैं वे सशरीर कर्ता के बनाये हुए होते हैं, जैसे घड़ा, मेज़ वग़ैरह के बनाने वाले बढ़ई आदि। इस लिए जब पृथ्वी आदि पदार्थ कार्य हैं तो उन का बनाने वाला भी सशरीर ही होना चाहिये। इस कार्यत्व हेतु की व्याप्ति (अविनाभाव संबन्ध) अशरीर ईश्वर के विरुद्ध सशरीर पुरुष के साथ सिद्ध होने से विरुद्ध दोष आता है।

जल बरसना, घास उगना, भूकम्प होना आदि कार्य तो है किन्तु उनका कोई बुद्धिमान कर्त्ता सिद्ध नहीं होता। इस लिये कार्यत्व विपक्ष में भी रहने से व्यभिचारी दोष आता है।

घास उत्पन्न होना आदि कार्य किसी कर्त्ता के बनाये हुए नहीं हैं, क्योंकि उनका बनाने वाला कोई भी शरीरधारी

पुरुष नहीं है। इस अनुमान द्वारा कार्यत्व हेतु की बाधा तयार है, अतः अकिंचित्कर दोष आता है।

दूसरे प्रकार से यों विचारिये—

ईश्वर ने जगत को नहीं बनाया, क्योंकि वह हलन चलन आदि क्रिया से शून्य है। जो किसी पदार्थ का बनाने वाला होता है वह क्रिया सहित होता है, ईश्वर क्रिया रहित है, क्यों कि वह सर्वव्यापक है। जो सर्वव्यापक होता है, उसमे हलन चलन आदि क्रिया नहीं हो सकती ; जैसे—आकाश।

ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं, क्योंकि वह निर्विकार है। जो किसी चीज़ को बनाता है वह विकार वाला अवश्य होता है जैसे जुलाहा आदि। ईश्वर जगत को नहीं बना सकता क्यो कि वह निराकार है। निराकार कर्त्ता से कोई साकार पदार्थ नहीं बन सकता। जैसे आकाश से। सर्वज्ञाता ईश्वर इस ससार का रचने वाला नहीं है, क्योंकि नास्तिक लोग, बकरी के गले में थन, गुलाब के पेड़ में कांटे बनाना तथा सोने मे सुगन्ध न रखना, गन्ने पर फल, चन्दन पर पुष्प का न होना, सर्वज्ञ कर्त्ता का काम नहीं है। दयालु ईश्वर सृष्टि का रचियता नहीं हो सकता, क्योंकि दीन हीन निर्बल प्राणियों को दुःख पहुचाने वाले दुष्ट लोग, सर्प, सिंह, बाघ आदि जीव ससार में दीख पड़ते हैं, ईश्वर यदि दयालु होता तो ऐसा कभी न करता। सर्वशक्तिमान ईश्वर संसार का निर्माता नहीं है, क्यों कि संसार में अनेक अत्याचार, अन्याय और उनके करने

वाले जीव दीख पडते हैं। यदि सर्वशक्तिमान ईश्वर संसार को बनाता तो ऐसा कभी न होने देता। आनन्दस्वरूप ईश्वर जगत का बनाने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि वह पूर्ण आनन्दस्वरूप है। जो पूर्ण आनन्दस्वरूप होता है उसे किसी कार्य के करने-धरने-हरने से क्या काम ? अर्थात् कुछ नहीं, जैसे—मुक्त जीव।

इत्यादि अनेक प्रकार से न्याय द्वारा ईश्वर का सृष्टि को बनाना असत्य सिद्ध होता है। अब दूसरे प्रकार से इसी विषय को विचारिये—

ईश्वर ने जब कि संसार को बनाया तो ईश्वर को किसने बनाया ? क्योंकि जिस प्रकार संसार को कार्य माना जाता है उसी प्रकार ईश्वर को भी क्यों नहीं ? इसका उत्तर यदि यह दिया जाय कि ईश्वर को किसी ने नहीं बनाया तो आप के लिये भी यह उत्तर काफी है कि उसी प्रकार जगत को भी किसी ने नहीं बनाया—ईश्वर के समान अनादिनिधन है। यदि सत्यार्थ प्रकाश के २२६ वें पृष्ठ पर लिखा हुआ 'मूले मूलाभावाद-मूलं मूलं" सांख्यसूत्र अध्याय १ सूत्र ६७ यानी कारण का कारण नहीं होता है, यह स्वामी जी का उत्तर माना जाय तो भी ठीक नहीं; क्योंकि यह नियम केवल उपादान कारण के लिये है। तदनुसार परमाणु रूप प्रकृति का कोई अन्य कारण नहीं हो सकता। किन्तु निमित्त कारणरूप ईश्वर की उत्पत्ति के लिये तो कारण होना आवश्यक है; जैसे—घडे के निमित्त कारण

कुम्हार, कुम्हारके कारण उसके माता पिता हैं। इस लिये या तो ईश्वर को उत्पन्न करने वाला कोई कारण होना चाहिये अथवा जीव और प्रकृति के समान इस सृष्टि को अनादि मानना आवश्यक है।

अब यों भी जरा विचार कीजिये कि ईश्वर ने अलग २ परमाणुरूप प्रकृति से ये सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि किस प्रकार बना कर तैयार किये? (स्वामी जी ने इस बात का कहीं भी खुलासा नहीं किया है)। संसार में हम देखते हैं कि जब कोई मनुष्य किसी पदार्थ को बनाता है तो वह अपने ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न से ही उसे बनाता है। उसी प्रकार ईश्वर ने जब सृष्टि को बनाया तब उसने उन परमाणुओं को केवल ज्ञानमात्र से ही जुड़ा दिया? या इच्छा से जुड़ाया? पहला पक्ष तो असत्य है क्योंकि कोई भी कर्त्ता सिर्फ ज्ञान के जरिये से ही कोई पदार्थ तयार नहीं कर सकता; फिर ईश्वर का भी ज्ञान से परमाणुओं का संयोग करा देना कैसे संभव हो सकता है? यदि वह इच्छा से जगत बनाता है तब एक तो यहां यह प्रश्न है कि यह इच्छा निर्विकार ईश्वर के क्यों कर उत्पन्न हुई— इच्छा विकार वाले अनित्य पुरुष के ही उत्पन्न हो सकती है? इस शंका का कुछ भी उत्तर नहीं, किन्तु फिर भी इच्छा से जगत को बनाना कठिन है क्योंकि ज्ञानशून्य जड़ परमाणु ईश्वर की इच्छा को क्या समझें? फिर क्या ईश्वर ने उन्हें मिल जाने के लिये हुक्म चलाया? किन्तु अशरीर ईश्वर कैसे

तो हुक्म दे? और ज्ञान कान रहित परमाणु कैसे उसके हुक्म को सुनें और समझें! ऐसी आपत्ति खड़ी होने पर ईश्वर सृष्टि को कैसे बना पावे? बिना शरीर के सृष्टि रचने का प्रयत्न होना असम्भव है। इस लिये यहां दो ही मार्ग दीखते हैं कि या तो परमात्मा के हाथ पैर मान लिये जांय, जिससे वह परमाणुओं को पकड पकड कर मिलाता हुआ सृष्टि खड़ी करदे (क्योंकि इसके बिना सर्वव्यापक अशरीर के किसी भी प्रकार सृष्टि रचने का प्रयत्न नहीं हो सकता)' अथवा परमाणुओं का अपने आप आपस में मिल जाना मान लिया जाय। तब फिर इस दूसरी दशामें ईश्वरने क्या किया? यानी कुछ नहीं किया। इस समस्त समस्या को आप विचारेंगे तो आप स्वयं उत्तर देंगे कि ईश्वर सृष्टि कर्ता नहीं हो सकता।

सत्यार्थ प्रकाश के २१६ वें पृष्ठ पर सत्वरजस्तमसां-साम्यावस्था प्रकृति' इत्यादि सांख्य सूत्र के प्रथम अध्याय का ६१ वां सूत्र लिख कर स्वामी जी ने सांख्यमत के समान सृष्टि रचना को यो माना है कि "प्रकृति से महत्तत्व [बुद्धि] उस से अहङ्कार (अभिमान) उस अहङ्कार से पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्रा इस तरह १६ पदार्थ उत्पन्न हुए, एवं पांच तन्मात्राओं से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच भूत उत्पन्न हुए।" अब इसविषय में दो बातें विचारनी है,

एक तो यह कि आकाश को परमात्मा चौथी श्रेणी पर शब्द मे उत्पन्न करता है तो इससे सिद्ध हुआ कि प्रलय-समय मे या सृष्टि के पहले आकाश नहीं था, जैसा कि स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के २३३ वें पृष्ठ पर भी लिखा है कि "अहङ्कार से भिन्नभिन्न पांच सूक्ष्म-भूत और उन पाँच तन्मात्राओं से अनेक स्थूल अवस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पांच स्थूल-भूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं।" तब वहां यह प्रश्न उठता है कि बिना आकाश के चार अरब बत्तीस करोड वर्ष तक प्रलय काल मे समस्त जीव और प्रकृति के सब परमाणु एव ईश्वर किस स्थान पर ठहरते है? जब कि बिना आकाश के २-४ मिनिट भी कोई एक पदार्थ नहीं ठहर सकता, फिर यहां तो अनन्त पदार्थों के लिये अरबों वर्षो तक ठहरने का स्थान चाहिये, क्योंकि आकाश रहा नहीं है वह चार अरब बत्तीस करोड वर्ष पीछे पैदा होगा और आकाश के बिना ठहरने को जगह देने की शक्ति स्वय ईश्वर मे भी नहीं है। इसके साथ ही यह भी आपको विचारना आवश्यक है कि अमूर्तिक आकाश का कैसे तो प्रलय होवे और वह फिर शब्द द्वारा कैसे पैदा हो? क्यों कि शब्द परमाणुओं के पिंड मे पैदा होता है जैसा कि टेलीफोन फोनोग्राफ तथा साइन्स से सिद्ध है। इन प्रश्नों का उत्तर किसी प्रकार भी नहीं मिल सकता।

इसके सिवाय दूसरी बात यह विचारने की है कि प्रकृति जो कि जडस्वरूप है, प्रलयकाल में परमाणुरूप होती है, उससे महत्तत्व यानी बुद्धि जो कि जीव का गुण है कैसे उत्पन्न हो सकती है? जब कि प्रकृतिरूप उपादान कारण स्वयं जड है तो उसका कार्य महत्तत्व बुद्धिरूप होना नियम से और विज्ञान से असम्भव है। स्वामी जी ने सृष्टि रचना के लिये ऐसी असम्भव बातों को न जाने क्यों लिखा?

एव—सत्यार्थ प्रकाशक २३३ वें पृष्ठ को पढ़कर आप और भी अधिक असम्भवता देखेंगे। उसमें स्वामीजी ने लिखा है कि अहंकार से भिन्न भिन्न पांच सूक्ष्म भूत श्रोत्र (कान), त्वचा (चमड़ा), नेत्र, जिह्वा, घ्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाक् (वचन) हस्त (हाथ), पाद (पैर), उपस्थ (लिंग), और गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रियां और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। उनसे (आकाशादि पांच भूतों से) नाना प्रकार की औषधियां वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है" अब विचार करो कि आँख, कान, नाक, चमड़ा, जीभ, तथा हाथ, पांव, लिंग, और मन तो पहले ही अहंकार से बनकर तैयार होगए, किन्तु शरीर अभी तैयार नहीं हुआ, वह वीर्य से तैयार होगा। वीर्य अन्न से और अन्न वृक्षों से तथा वृक्ष पांचभूतों से तैयार होंगे। क्या शरीरके बिना हाथ पांव, आंखें आदि अलग योंही पड़ी रहीं और शरीर इन इन्द्रियों के बिना ही पैदा हुआ, जिसमें कि ये इन्द्रियाँ ईश्वर ने चिपका दीं? विचारिये कि

शरीर के बिना क्या तो इन्द्रियां हो सकती है? और इन्द्रियों के बिना जिनमें कि हाथ पांव भी शामिल है क्या शरीर हो सकता है? यह भी स्वामी जी ने अच्छा नियमविरुद्ध असभव सृष्टि की रचना का ढांचा लिख मारा। इस पर खूब विचार कीजिये।

सृष्टि बनाने के लिए स्वामीजी ने खास दलील यह पेश की है कि परमाणु जडरूप है, उनमे कुछ ज्ञान नहीं, वे आपस मे मिल कर सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। इसलिए उनको मिलाकर सृष्टि पैदा करने वाला ईश्वर मानना जरूरी है।

किंतु प्यारे दोस्तो! शांति के साथ विचार करो कि ससार मे जड पदार्थ अपने आप क्या अद्भुत काम कर लेते हैं। देखिये—जल को जिस समय गर्मी मिलती है तब वह भाफ बन कर ऊपर उड जाती है, वहां धुएं आदि के साथ मिल कर बादल के रूप मे होता रहता है। फिर हवा की ठंडक पाकर वे ही बादल पानी होकर बरसने लगते हैं, शर्दी के दिनों मे रात्रि के समय ओस और बर्फ के रूप में वही उडी हुई पानी की भाफ गिरती है बादल आपस मे टकरा कर बिजली पैदा कर देते हैं। जमीन के भीतर देखो कहीं विस्फोटक पदार्थों से अग्नि लग कर बडी २ चट्टानें जल कर कोयले के रूप मे हो जाती हैं। कहीं पर सोना, कहीं पर चांदी, कहीं पर कुछ और कहीं कुछ एक दूसरे के संयोग से पैदा हो जाता है। इत्यादि परमाणुओं को जहां जैसा सयोग मिलता है वहां वैसा हो जाता है। क्या ये सब

बातें ईश्वर किया करता है ? आकाश मे बादल, बिजली, जमीन के भीतर कहीं सो सोना, कहीं चांदी और कहीं अग्नि (जिसके विस्फोट से भूकम्प और शहर के शहर विध्वन्स होजाते हैं), तथा जो देश ठंडे हैं वहां सदा ठंड ही रखना और जो गर्म है वहां गर्मी ही रखना, क्या ये सब परमात्मा के कार्य हैं? यदि हैं तो क्यों? कमी बेशी क्यों नहीं? हम देखते हैं कि बड़े बड़े बलवान मनुष्यों को जरासी शराब पागल कर देती है, संखिया मार देता है, और शरीर के बड़े २ घावों के खराब मैलको हटाना, कीड़ोंको मारना, घावके गढ़ेको भरना और उस पर नवीन चमड़ा लाना ये काम एक छोटी जड़ी-बूटी से होजाते हैं। नर्मदा नदी में जितने भी पत्थर निकलते हैं वे प्रायः नदी के प्रवाह से महादेवकी मूरत के गोल ही होते हैं। पत्थरों पर ऐसे अच्छे सुन्दर बेल बूटे खान में ही अपने आप अंकित होजाते हैं, जिन्हें मनुष्य कठिनता से बना सकता है। यह क्या जड़ पदार्थोंका परस्पर संयोग से अद्भुत कार्य नहीं है? भोजन कर लेने के बाद शरीर के कल पुर्जे, रस, रक्त, मेदा, टट्टी, पेशाब आदि वस्तु कैसे नियमानुसार कर देते हैं। किसीके पेटमें टट्टी बन्धी हुई, बकरी के पेटमें मेंगनी, ऊंटके पेटमें छोटे २ आम सरीखे लेंडे बनकर तैयार होजाते हैं, क्या ये कार्य ईश्वर ही करता है या उस शरीर वाले जीव कर देते हैं। ऐसा करना मनुष्य आदि के हाथकी तो बात नहीं है। क्योंकि ऐसा ही होवे तो फिर कभी अजीर्ण आदि नहीं होना चाहिये। अतः ये प्रशंसनीय अद्भुत कार्य भी ज्ञानशून्य शरीर के यन्त्रोंसे हुआ करते हैं। महाशयो! वैद्यक से देखो

डाक्टरी से देखो या साइन्स से विचारो—उत्तर एक ही मिलेगा कि जब जैसा जहां संयोग मिलता है, तब तैसा वहां होजाता है। खून खराब होने पर फोड़े, फुन्सी खुजली, दाद होजाता है. क्या यह परमात्मा कर देता है? नहीं। इन समस्याओंको भी आप खूब विचार लीजिये।

आपको सब तरहसे उत्तर यही मिलेगा कि जड़ पदार्थ जब जैसे पदार्थ का संयोग पाते हैं तब तैसी शकलमें पलट जाते हैं। वह संयोग कहीं अपने आप और कहीं मनुष्यादि द्वारा होता है।

अच्छा, इन बातों के सिवाय एक बात यह भी विचारिये कि ईश्वर सच्चिदानन्द, निर्विकार और कृतकृत्य है, फिर वह सृष्टिको किस लिये बनाता है? जैसा कि सांख्य दर्शनके प्रसिद्ध प्रचारक श्री कुमारिलभट्ट ने भी तन्त्रवार्तिक में कहा है कि—

प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।
जगच्चासृजतस्तस्य किन्नाम न कृतं भवेत्॥

यानी—बिना कुछ मतलब विचारे मूर्ख मनुष्य भी किसी कामके करने में नहीं लगता। तदनुसार ईश्वर यदि संसार को नहीं बनाता तो उसका क्या बिगड़ जाता? अर्थात् किस मतलब से ईश्वरको सृष्टि रचनाके लिये प्रयत्न करना पड़ा?

स्वामीजी ने सत्यार्थ प्रकाशके २२४ वें पृष्ठ पर इस शंका का समाधान प्रश्नोत्तर के रूपमें यों किया है—

प्रश्न—जगतके बनाने में ईश्वर का प्रयोजन

है ? उत्तर—नहीं बनानेमें क्या प्रयोजन है ?

प्रश्न— जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुख दुःख प्राप्त न होता। उत्तर—यह आलसी पुरुषों की बातें हैं, पुरुषार्थीकी नहीं। और जीवोंको प्रलयमें क्या सुख वा दुःख है ? जो सृष्टिके सुख दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक होता और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं। प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्तिमें पड़े रहते हैं। वैसे रहते हैं। और प्रलयके पूर्व सृष्टिमें जीवोंके लिये पाप पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव क्यों कर भोग सकते ? जो तुमसे कोई पूछे कि आंखके होने में क्या प्रयोजन है ? तुम यही कहोगे, देखना। तो जो ईश्वर में जगत की रचना करने का विज्ञान बल और क्रिया है उसका क्या प्रयोजन, बिना जगत की उत्पत्ति करने के ? दूसरा कुछ भी न कह

सकोंगे और परमात्मा के न्याय, धारणा, दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं जब जगत को बनावे। उसकी अनन्त सामर्थ्य जगत की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय और व्यवस्था करने से ही सफल है। जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।"

स्वामी जीका यह उत्तर यद्यपि संतोषजनक नहीं है, किन्तु तो भी प्रथम इसी पर विचार करना आवश्यक है। स्वामी जीने अपने उत्तर में ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना के दो हेतु बतलाये हैं। एक तो यह कि ईश्वर को अपना पुरुषार्थ, बल, दया, ज्ञान आदि गुणों का परिचय देने के लिये तथा उन्हें सफल बनाने के लिये सृष्टि रचना आवश्यक है। दूसरे प्रलयकाल के जीवोंका उद्धार करना और उनके पूर्व कर्मोंका उन्हें फल देने के लिये सृष्टि बनाने की जरूरत है।

इनमें से दूसरा हेतु तो पूछने वाले के लिये युक्तिपूर्वक नहीं है। क्योंकि जो मनुष्य संसारका प्रलय होना ही असंभव समझता है, संसारके बनाने बिगाड़ने में ईश्वरका कुछ सरोकार नहीं मानता है। उसके लिये स्वामी जीका यह हेतु कि प्रलयमे

जीवोंका उद्धार करके ईश्वर उन्हे उनके कर्मा का फल देनेको सृष्टि बनाता है व्यर्थ है। क्योंकि वह सृष्टि रचनाकी तरह प्रलय को भी असम्भव मानता है। उसके सामने तो ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना और प्रलय होना दोनों बातें असिद्ध हैं। उन्हे सिद्ध किये बिना स्वामीजीका यह प्रयोजन बतलाना व्यर्थ है।

तथा—स्वामी जी के पहले हेतुमें ईश्वर के परमात्मापन में दोष आता है। क्योंकि जो समस्त इच्छाओंसे और कर्तव्य कार्योंसे रहित है, विकारोंसे अलग है, उस ईश्वरको संसारके सामने अपना बल-पुरुषार्थ दिखाने की क्या जरूरत? यह तो हम और आप सरीखे जीवोंकी बातें हैं जिन्हें कि यश और सत्कार पानेकी ख्वाहिश रहती है कि अपने शरीरका बल लोगों को बताने के लिये किसीसे कुश्ती लड़ें, अपना धन दिखाने के लिये दान करें, अच्छे भोग भोगें, इत्यादि रूपसे जैसे जो ख्वाहिश पूरी हो, उसे जरूर करें। क्या परमेश्वर को भी नामवरी (यश) और पूजा पानेकी ख्वाहिश थी? क्या उसके मनमें यह बात थी कि लोग मेरी सामर्थ्यको जरूर समझें। क्या उसे सृष्टि बनाने-बिगाड़ने सरीखा लड़कों का-सा खेल खेलना और अपनी महिमा सबको दिखलाना बाकी रहा था? इन बातों से तो परमेश्वर कृतकृत्य नहीं ठहरता है। हमारे समान उसे भी कार्य करने बाकी हैं। क्या किसीके शरीर में ताकत हो तो उसे निहायत जरूरी है कि वह किसीसे लड़-भिड़ कर अपनी ताकत का जरूर इम्तहान दे? क्या ईश्वरको ऐसा

इम्तिहान देना थी। मुक्त आत्मा कृतकृत्य इसीलिये कहलाता है कि उसको कोई करने योग्य कार्य नहीं रहता है। अतः ईश्वर में इस हेतुसे ख्वाहिश पूर्तिकी वजह से विकार और अकृतकृत्य का दोष आता है। इसके सिवाय स्वामी जी परमेश्वर का जो सृष्टि रचना स्वभाव बतलाते हैं, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि कहने मात्रसे स्वभाव सिद्ध नहीं होता। उसके लिये कोई दलील होनी चाहिये।

यदि जीवोंके उपकार के लिये ईश्वर द्वारा सृष्टिरचना मानी जाय तो संसारमें सभी जीव दुःखी क्यों हैं? कोई पुत्र से, कोई धनसे, कोई बलसे, तथा कुछ दिन पीछे प्रलय क्यों होती है? यह तो उपकार नहीं है, बल्कि अपकार है। दयालु तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर सबोको दुःखी ही क्यो बनाता है? यदि जीव अपने कर्म फलसे दुखी हैं तो सर्वशक्तिमान ईश्वर उन्हें खराब कर्मोंसे रोकता क्यो नहीं?

क्या ईश्वरको खाली बैठे २ उदासी आगई थी, जिससे समय काटने के लिये उसने संसार के बनाने बिगाडने का ही खेल शुरू कर दिया।

न्याय प्रियता दिखलाने के लिये सृष्टि रचना-की तो कोई मनुष्य, कोई पशु, कोई धनिक और कोई दरिद्र क्यों बनाया? सब एक सरीखे क्यो नहीं बनाये? उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि प्रलय के समय जैसे उनके कर्म थे वैसा उन्हें फल मिला-तो

भी ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि रचना के पहले प्रलय की सूरत थी, इसका क्या सुबूत है ?

एवं अन्तमें यह भी विचारना है कि पदार्थ अपने बीज (उपादान कारण) द्वारा ही नियमसे पैदा होते हैं। गेहू के बीज से जैसे चांवल उत्पन्न नहीं हो सकता। उसी तरह मनुष्य से घोड़ा भी उत्पन्न नहीं हो सकता। मनुष्यसे मनुष्यका ही शरीर पैदा होगा और चावल से चावल ही उत्पन्न होगा। इस नियम को खण्डित करनेकी न किसीमें ताकत है और न इसका कोई प्रमाण ही है। अन्यथा अन्धाधुन्ध हो सकता है, जैसाकि पौराणिकोंने कर्ण को कुन्ती के कानसे, सत्यवती (मत्स्यगधा) को मछली से, अगस्ति मुनिको घड़े से और ऋषिश्रृंग को हरिण के सींगसे उत्पन्न हुआ कह दिया है। तब जरा इतना विचारिये कि सृष्टि की शुरूआत में ईश्वर विना माता पिता के जवान स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, कोड़े, मकोडे वगैरह कैसे तैयार कर सकता है ? संसारकी कौनसी साइन्स इसके लिये लागू हो सकती है ? स्वामी जीका सत्यार्थ प्रकाश के ३३४ वें पृष्ठका लेख कि—

"आदि सृष्टिमें मनुष्य विना माता पिताके युवावस्था में पैदा होते हैं।" यदि सत्य माना जाय तो आप लोग पुराणों के गपोड़ों को झूठा नहीं कह सकते। जबकि हम आज देखते हैं कि मनुष्यसे ही मनुष्य उत्पन्न होता है, अन्य तरह नहीं। क्योंकि मनुष्य शरीर के उपादान कारण माता-पिता

के रज-वीर्य ही हैं, अन्य नहीं तो युक्तिपूर्वक नियमसे मनुष्य परम्परा अनादि सिद्ध होती है। बीच समयमें उस परम्परा का एक दम टूट जाना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। इसे भी पूर्ण तौरसे विचारिये और इन्साफ कीजिये कि जैनधर्मका ईश्वर को सृष्टिकर्ता न बतलाना सत्य है या स्वामी जी का लिखना ठीक है?

तथा-स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के २१६ वें पृष्ठ पर एवं अन्यत्र भी जो सृष्टि रचना प्रक्रिया लिखी है वह सांख्य-दर्शनके प्रथम अध्यायके ६१ वें सूत्रका उल्लेख करके उसके अनुसार उल्लिखित की है। इससे यह तो सिद्ध है कि स्वामी जी वेदानुयायी सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिल ऋषिको प्रमाण मानते हैं और उनके दर्शनको सत्य समझते हैं। अब यहां पर स्वामी जी की भूलका अथवा छलव्यवहारका विचार कीजिए—

सांख्यदर्शन जिस किसी ने पढ़ा या सुना होगा उसे अच्छी तरह मालूम होगा कि सांख्यदर्शन ईश्वरको नहीं मानता और न उसे सृष्टिकर्ता ही कहता है। वह जगत में प्रकृति और पुरुषकी सत्ता ही स्वीकार करता है, सृष्टि रचने का कार्य जड़रूप प्रकृति द्वारा होना कहता है। पुरुषों (आत्माओं) में से कुछको मुक्त और कुछको प्रकृति से बद्ध (बंधा हुआ) स्वीकार करता है। उसके सूत्रों को जरा देखिये कि वह अपना क्या अभिप्राय प्रगट करता है—

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः।

(सांख्यदर्शन अध्याय ५ सूत्र २)

अर्थात— ईश्वर के द्वारा फल नहीं मिलता है, क्योंकि कर्मों से वह फल देनेका कार्य होजाता है ।

न रागादृते तन्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ।

(अ० ५ सू० ६)

अर्थात— प्रतिनियत कारण होनेसे रागके विना उसकी सिद्धि नहीं है। यानी-रागके विना किसी कार्यके करने में प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः ईश्वरका यदि फल देना आदि कोई भी कार्य माना जायगा तो ईश्वर के राग अवश्य मानना पडेगा।

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्त । (अ० ५ सू० ७)

अर्थ— ईश्वर मे राग है नहीं क्यों कि वह नित्य (सदा से) मुक्त है ।

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्संगापत्तिः । (अ० ५ सू० ८)

यदि पुरुष के समान प्रधान (प्रकृति) की शक्ति से ईश्वर में फलदातृत्व माना जावे तो प्रकृति के संबन्ध होने का दोष आता है ।

सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम् । (अ० ५ सू० ९)

अर्थ—यदि केवल प्रकृति की सत्ता से अर्थात प्रकृति के संयोग बिना ईश्वर को फलदाता माना जावे तो सभी जीव ईश्वर हो जायंगे ।

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः । (अ०५ सूत्र१०)

इस कारण ईश्वर की मौजूदगी में कोई सबूत न मिलने से ईश्वर नहीं है ।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् । (अ० ५ सूत्र ११)

सम्बन्ध न होने से यानी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा होनेवाले साध्य साधन की व्याप्ति के न होने से अनुमान द्वारा भी ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता।

श्रुतिरपि कार्यत्वस्य । (अ० ५ सूत्र १२)

यानी—श्रुति भी प्रधान द्वारा कार्य होने को बतलाती है अर्थात श्रुतियों में भी यही लिखा है कि सृष्टि रचना फल देना आदि कार्य प्रकृति ही करती है। अतः ईश्वर की मौजूदगी श्रुति (शब्द प्रमाण) से भी सिद्ध नहीं होती है।

इस प्रकार सांख्य दर्शन ने, ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना और फल देने की बात तो दूर रही, किन्तु, ईश्वर की सत्ता को भी नहीं माना है, फिर भी स्वामीजी ने लोगों को चक्कर में डालने के लिये सांख्य दर्शन को ईश्वरवादी बतलाया है और जो उसने प्रकृतिद्वारा सृष्टि रचना मानी है उसे स्वामीजी ने ईश्वर द्वारा बतला कर सच्चे मतलब पर परदा डाल दिया और खींचतान कर सांख्यदर्शन को अपनी ओर मिलाने के लिये सूत्रों का अर्थ कुछ का कुछ कर दिखाया है। देखिये! सत्यार्थप्रकाश के १६८वें पृष्ठ पर 'ईश्वरासिद्धेः' आदि तीन सूत्रों द्वारा प्रश्न करके ऊपर लिखे हुये ८, ९ और १२वें सूत्रद्वारा उसका उत्तर देते हुये स्वामीजी ने ८वें और ९वें सूत्र के अर्थ में "इसलिये ईश्वर जगत का उपादान कारण नहीं

किन्तु निमित्त कारण है" इतना वाक्य मूल सूत्र में न न होते हुवे भी अपने पास से मिला दिया है और सत्यार्थप्रकाश के १११वें पृष्ठमें बडे अभिमानसे लिखते हैं इसलिये जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है जानो वही अनीश्वरवादी है कपिलाचार्य नहीं। यद्यपि स्वामीजी के इस असत्य वाक्य के खंडन के लिये पीछे लिखे हुए सांख्य दर्शन के पांचवें अध्याय के सूत्र ही बहुत है, किन्तु फिर भी उसी सांख्यदर्शन के प्रथम अध्याय के दो तीन सूत्र और भी देखिये—

ईश्वरासिद्धेः (सूत्र ९२)

अर्थात्—इसलिये ईश्वर की सत्ता असिद्ध है।

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः। (सू० ९३)

यानी चैतन्य दो प्रकार है, मुक्त और बद्ध। उन दोनों मे से ईश्वर न तो बद्ध (प्रकृति से सयोग रखने वाला) है और न मुक्त ही है। अतः ईश्वर नहीं है।

उभयथाप्यसत्करत्वम्। (सू० ९४)

अर्थ—दोनों प्रकार से यानी बद्धरूप या मुक्तरूप मान लेने पर भी ईश्वर का कर्तव्य (सृष्टिरचना, फल देना आदि) नहीं सिद्ध होता है। अर्थात—यदि ईश्वर मुक्त है तब तो अन्य मुक्त जीवों के समान कुछ कर धर नहीं सकता और यदि बद्ध

(संसारी) है तो हमारे तुम्हारे समान होकर भी नहीं कुछ कर सकता।

अब विचारिये कि कपिलाचार्य अपने सांख्यदर्शन में कितने साफ तौर से ईश्वर की मौजूदगी से इनकार करते हैं और स्वामी जी फिर भी जबर्दस्ती उलटा सीधा समझा कर उन्हें अपनी ओर मिलाते हैं। **क्या यह ईश्वर द्वारा सृष्टिरचना की नमूनेदार पोल नहीं है?** महाशयो! आप सांख्यदर्शन को स्वयं देखिये और फिर स्वामी जी की लिखी हुई सृष्टिरचना को सत्यार्थप्रकाश में पढ़िये। आप अपने आप तमाम सचाई को समझ जायगे। यद्यपि सृष्टि-रचना के विषय में और भी अनेक शङ्काएँ हैं; जिनका आप उत्तर सिवाय इसके कि **"वास्तव में ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं है"** कुछ नहीं दे सकते, परन्तु विस्तार हो जाने के कारण इस विषय को हम यहीं पर छोड़ते हैं। आप इस पर सच्चे दिल से विचार कीजिये कि जैनधर्म का ईश्वर को सृष्टिकर्ता न मानना सच है? या स्वामी जी का लिखना ठीक है?

सृष्टि के विषय में जैनधर्म का संक्षेप से यह कहना है कि यह संसार अनादिकाल से मौजूद है। इसको न किसी ने कभी बनाया है, न बिगाड़ा है और न कभी आयन्दा इसका सर्वथा बनना बिगड़ना होगा; जैसे आज तक चला आया है वैसा ही चला जायगा। इसका खास प्रमाण यह है कि पदार्थ अपने

उपादान कारण से ही उत्पन्न होते हैं, अन्य तरह नहीं। इस कारण जब कभी मनुष्य उत्पन्न हुए थे या होंगे. तब वे अपने माता पिता के रज-वीर्य से ही होंगे। ऐसे ही हाथी, घोड़ा, सिंह आदि अन्य जीव और यहां तक कि गेहूँ चावल आदि भी अपने नर मादा रूप माता पिता के रज-वीर्य से तथा बीज से ही अभी तक उत्पन्न हुए हैं और होंगे, अन्य तरह से नहीं। इसलिये नियम विरुद्ध बिलकुल नई सृष्टि की रचना और प्रलय का होना असम्भव है। हां! यह हो सकता है कि कभी कहीं शहर का जंगल हो जाय और कभी जङ्गल में मङ्गल हो जाय, कभी मनुष्यों का शरीर, बल, बुद्धि ऊँचे बड़े रूप में हो और कभी हीन रूप में हो।

कहीं जीवों द्वारा मकान, मन्दिर, पुल, नहर आदि चीजें बनती हैं, कहीं वर्षा, शर्दी गर्मी आदि द्वारा तथा पर-स्पर पदार्थों द्वारा ही अनेक बनते बिगड़ते रहते हैं, अन्य अन्य रूपों में पलटते रहते हैं। छोटे छोटे से पत्थरों के टीले से पहाड़ बन जाना तथा छोटे से जल के सोते से बड़ी नदी का रूप हो जाना इत्यादि कार्य प्रकृति, बिना किसी चेतन पदार्थ की (जीव की) सहायता लिए, बना कर तयार कर देती है।

अब आप स्वयं विचार कीजिये कि जैनधर्म ने ईश्वर मान कर भी जो उसे जगत का बनाने बिगाड़ने वाला नहीं माना है. वह मानना उसका युक्ति और न्याय से ठीक है या नहीं?

प्रलय पर प्रकाश

'जगत् की प्रलय कभी नहीं होती'

यद्यपि हमारे पूर्वोक्त लेख से ससार की बिलकुल नवीन रचना का होना तथा उस का सर्वथा नाश यानी प्रलय का होना असंभव ठहर चुका है, किन्तु स्वामीजी ने अनेक स्थानों पर प्रलय का उल्लेख करके ईश्वर की सिद्धि करना चाही है। अतः इस विषय पर भी कुछ प्रकाश डाल देना उपयुक्त समझते है।

इस विषय में प्रवेश करने से प्रथम यह अच्छा मालूम होता है कि आपके सामने स्वामीजी के प्रलय-सम्बन्धी कुछ परस्पर विरोधी लिखित नमूने पेश किये जावें, जिनसे कि आप स्वामीजी के प्रलय सबन्धी सिद्धान्तों से उनके अनिश्चित मत को समझ लें। स्वामीजी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के १२२वें पृष्ठ पर प्रलय का स्वरूप लिखते हैं—

"जब ये कार्य-सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्व शक्तिमान परमेश्वर और दूसरा जगत का कारण अर्थात जगत बनाने की सामग्री बिराजमान थी, उस समय शून्य नाम आकाश अर्थात जो नेत्रोंसे देखनेमें नहीं आता सो भी नहीं था, क्योंकि उस समयउसका व्यवहार नहीं था।

उस काल में सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहलाता है वह भी नहीं था उस समय परमाणु भो नहीं थे तथा विराटअ-र्थात जो सब स्थूल जगत के निवास का स्थान है सो भो नहीं था "।

यानी प्रलय दशा में परमेश्वर के सिवा आकाश, परमाणु, प्रकृति, आदि कुछ भी नहीं था। अनन्तर स्वामीजी ने १२४ पृष्ठ पर भी लिखा है, कि 'हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहले वर्तमान था। इस प्रकार ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिख कर आप सत्यार्थप्रकाश के २१८वें पृष्ठ पर लिखते हैं, कि ईश्वर, जीव और जगत का कारण ये तीन अनादि हैं। यहां पर ईश्वर के सिवा जीव और प्रकृति को भी सृष्टि के पहले मान लिया। अब सत्यार्थप्रकाश के २३८ वें पृष्ठ पर निगाह डालिये, वहां स्वामीजी ने लिखा है कि आकाश, काल, जीव और परमाणु नये वा पुराने कभो नहीं हो सकते; क्योंकि ये अनादि और कारण रूप से अविनाशी हैं।' यहाँ आपने ईश्वर के सिवा चार पदार्थों को भी जिन में कि काल भी सम्मिलित है। अनादि मानकर उन की सत्ता प्रलय

काल ने बतला दी, जिससे कि साफ नहीं हुआ कि स्वामी जीने प्रलय-दशा में आकाश, काल माना है या नहीं ? क्योंकि सृष्टि-रचना के समय शब्द से उस आकाश की उत्पत्ति भी उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के २३३ वे पृष्ठ पर लिखी है। ऐसे परस्पर-विरोधी लेखों से प्रलय का असली स्वरूप क्या माना जाय ? (प्रलय के विषय मे यद्यपि स्वामीजी के लेखों में और भी अनेक परस्पर विरोध है, किन्तु नमूने के लिये इतना ही बहुत है) यदि २३८ वें पृष्ठ का लिखना सत्य है तो २३३ वें पृष्ठ की सृष्टिरचना गलत ठहरती है। यदि सृष्टि-रचना को साबित रखने के लिये २३८ वें पृष्ठ का लिखना असत्य मान कर आकाश की भी प्रलय मानी जाय तो प्रलय के समय जीव, प्रकृति, ईश्वर आदि कहां ठहरते होंगे ? इसका उत्तर विचारिये।

स्वामीजी के लिखे अनुसार प्रलय का स्वरूप यह है कि जब पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी तथा मनुष्यादि जीवों के शरीर वगैरह सभी पदार्थ नष्ट हो जांय, एक भी पदार्थ बाकी न बचे, सब जीव शरीर रहित हो जांय, प्रकृति परमाणु रूप में हो जावे तब प्रलय समझना चाहिये, यह प्रलय की हालत सृष्टि के समान चार अरब बत्तीस करोड वर्ष तक रहती है।

अब विचार कीजिये कि, ऐसी प्रलय भी कभी सम्भव हो सकती है ? जब कि ससार के सारे पदार्थ नेस्तनाबूद हो जावें ? इसके उत्तर में विचारशील पुरुष यही कहेगा कि, नहीं!

क्योंकि ऐसा होने का कोई कारण नहीं दीखता। हम लोग जब किसी पदार्थ का नाश होते देखते हैं तब हम को यही नज़र आता है कि वह पदार्थ दूसरी हालत में पलट गया। पहले घड़ा था जब उसे किसी ने ऊपर से पटक दिया तब फूट कर नष्ट तो हो गया, किन्तु उसकी सूरत अनेक टुकड़ों (ठीकरियों के) रूप में तब भी मौजूद है। यदि कोई मनुष्य उन टुकड़ों को और भी कूटपीस दे तो वे ही टुकड़े धूल के रूप मे हो जायंगे, फिर पानी का संयोग पाकर वह धूल घड़े बनने योग्य मिट्टी के रूप मे पुन हो सकती है। इस तरह असलियत में देखा जाय तो ठीकरी, धूल, मिट्टी आदि नाम ही बदल गये हैं, पदार्थ नष्ट नहीं हुआ। यद्यपि धूल आदि के कण किसी कारण से टूटते ही चले जांय तो परमाणु रूप में भी हो सकते हैं, किन्तु कुछ एक, सब नहीं। क्योंकि पानी अग्नि वायु आदि पदार्थों के सम्बन्ध से धूल, राख आदि बखरे हुए पदार्थों का संयोग (बंधा हुआ रूप) भी सदा होता रहता है। जैसे कुछ पदार्थ बिखर-बिखर कर परमाणु रूप में हो जाते हैं, उसी तरह अनेक परमाणु परस्पर में जुड़ते हुए स्थूलरूप में भी सदा होते रहते हैं। इस प्रकार के बनने-बिगड़ने को साइन्स भी सिद्ध करती है। ऐसा कोई कारण स्वामी जी को बतलाना चाहिये था जिससे परमाणुओं का परस्पर में मिलना तो बिलकुल बन्द हो जाय और सभी पदार्थों का बिखर बिखर कर परमाणुरूप में होना शुरू हो

जाय। क्योंकि ऐसा हुए बिना सभी पदार्थ नष्ट होकर परमाणु रूप में नहीं आ सकते। इस बात को यदि विज्ञान से विचारा जाय तो साइन्स इस बात का निषेध करती है तथा इसके सिवाय हमको अन्य कोई ऐसा कारण नजर नहीं आता जिससे कि यह बात सम्भव हो सके।

स्वामी जी के कथनानुसार इस कार्य का करने वाला यदि ईश्वर को माना जाय तो भी नहीं बनता क्योंकि अशरीर निराकार ईश्वर, साकार चीजों को कैसे बिगाड सकता है तथा इस काम के लिये हलन-चलन करने की जरूरत है सो ईश्वर सर्वव्यापक (सब जगह ठसाठस भरा हुआ) होने से ऐसा करने मे आकाश के सामान असमर्थ है। और फिर शुद्ध निर्विकार ईश्वर ऐसा बिगाडने का कार्य क्यों करे? बिना प्रयोजन जबकि साधारण पुरुष भी कोई बिगाड सुधार का काम नहीं करता, तब सर्वज्ञ ईश्वर ऐसा क्यो करने लगा? क्या सृष्टि के मौजूद रहने से उसका कुछ बिगडता था? या बिना सृष्टि का सर्वनाश किये उस को चैन नहीं पडती थी? या बालक के समान उसे भी खेल बिगाड़ना बनाना अच्छा लगता है? कौनसा ऐसा बोझ या दबाव उस के ऊपर है जो संसार का सर्वनाश किये बिना ईश्वर का ठिकाना मुश्किल है? जब कि नीति के अनुसार अपने हाथ से लगाये हुए कांटदार पेड को उखाड़ फेंकना, अपने दुर्गुणी भी पुत्र को मार डालना अनुचित है तो ईश्वर फिर ऐसा संसार का सर्व संहार

सरीखा अनुचित कार्य क्यों करता है? क्या सृष्टि उसका कोई मतलब बिगाड़ती है, जिससे कि परवश उसे ऐसा करना ही पड़ता है, इत्यादि किसी भी पहलू से बिचारें किन्तु किसी तरह भी प्रलय सरीखा महानिन्द्य कार्य ईश्वर द्वारा होना सम्भव नहीं होता। मालूम नहीं पड़ा कि स्वामी जी ने ईश्वर को निर्विकार पवित्र बतला कर भी ऐसा असम्भव ऊट पटांग कलङ्कित बात को ईश्वर के जिम्मे जबर्दस्ती क्यों डाल दिया।

यदि ईश्वर का प्रलय करना स्वभाव माना जाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि रचना और प्रलय करना सरीखे विरुद्ध दो स्वभाव एक ईश्वर में रह नहीं सकते। अतः या तो ईश्वर स्वभावसे सृष्टि कर्ता ही हो सकता है। या सृष्टि संहारक यानी प्रलय कर्ता ही हो सकता है, स्वाभाविक नियमानुसार दोनो स्वभाव उसमें रह नहीं सकते। जैसे अग्नि का स्वभाव यदि गर्म है तो उसके स्वभाव में शीतलता नहीं रहती। इसके सिवाय खास बात यह है कि, ईश्वर प्रलय करता है इसका हमे कोई सबूत नहीं मिलता।

तथा एक बात यह भी विचारने की है कि यदि संसार के सभी पदार्थों की पूरी तौर से प्रलय (नाश) हो जाय तो फिर सृष्टि का होना सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने उपादान कारणों से ही उत्पन्न होता है, अन्य प्रकार से नहीं। देखिये। आमके बीज से ही आम का पेड़ उत्पन्न

होता है, जिस बीजसे नीमका वृक्ष पैदा होता है, उससे आमका पेड़ कभी नहीं उत्पन्न होसकता। इसी तरह सिंह जाति के जीव सिंहके वीर्यसे ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्यकी पैदायश के के लिये मनुष्यका वीर्य ही होना निहायत जरूरी है। इत्यादि सभी गर्भज, अण्डज तथा वृक्ष आदि जीवोंके शरीरके उपादान कारण निश्चित हैं। अत वे अपने उपादान कारण से तो उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु हजारों यत्न करने पर भी उपादान कारण से भिन्न दूसरे पदार्थ से उनका शरीर नहीं बन सकता। इस बातको स्वीकार करते हुये स्वयं स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाशमें लिखा है कि "यदि कोई मनुष्यकी उत्पत्ति बिना माता पिता के कहे तो ऐसी बातें पागल लोगों की हैं।" किन्तु खेद! स्वामी जी अपनी अन्य बातोंके समान इस लिखी हुई बात पर भी दृढ नहीं रहे और प्रलय के चक्करमें आकर इस नियमको भी प्रलय कर बैठे। अस्तु, ध्यान पूर्वक विचारिये कि प्रलयकाल में जबकि समस्त जीवोंके शरीर नष्ट होकर परमाणुरूप होगये, तब संसारमे कहीं भी उनके शरीरके उपादानकारण जो बीज या अपनी २ जाति का रज-वीर्य है सो नहीं रहा। फिर सृष्टि के समय में उन जीवो के शरीर परमाणुओ से कैसे बन गये? परमाणुओं को मिलाकर ईश्वर ने मनुष्य का शरीर कैसे बना दिया? "सृष्टिकी आदि में बिना

माता पिता के जवान मनुष्यों को ईश्वर बनाता है" ऐसी बात लिखते समय स्वामी जी "यदि कोई मनुष्य की उत्पत्ति बिना माता पिताओं के कहे तो ऐसी बातें पागल लोगोंकी हैं।" अपनी लिखी हुई बातको भूल गये। हम क्या समझें कि इन दोनों में से कौन सी बात बुद्धिमानी की है और कौन सी पागलपन की है? (अपराध क्षमा हो यह स्वामी जीके ही वचन हैं)

ईश्वर की सर्वशक्ति के ध्यान से स्वामी जी यदि यह बात लिख गये हों तो उन्हें पौराणिकों की कथाओं को असत्य ठहराने का कोई अधिकार नहीं था, क्योंकि ईश्वर की महिमा गाकर स्वामी जी ने यदि बिना माता पिता के जवान मनुष्यों का उत्पन्न होना बताया तो पौराणिकों ने यदि हिमालय पहाड़ से पार्वती का, पार्वती के शरीर के मैल से गणेश का, घड़े से अगस्ति मुनि का उत्पन्न होना मान लिया तो कौन आश्चर्य की बात है। अतः जब कि आप पौराणिकों के गपोड़ों को झूठा समझने का दावा रखते हैं तो आपको यह भी उचित है कि उसके पहले स्वामी दयानन्द जी के इस महागपोड़े को अवश्य असत्य मानें। आशा है इसपर निष्पक्ष तौर से विचार करके आप सत्य बात का पता पा लेंगे।

इस विषय को समाप्त करने के पहले एक छोटी सी बात यह और पूछने की है कि स्वामी जी ने जो ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में प्रलय का समय सृष्टिकाल के बराबर चार अरब

बत्तीस करोड़ वर्ष का बताया है सो किस हिसाब से, किस नियम के अनुसार बताया है? क्या ईश्वर ने हमेशा के लिये अपना प्रलय और सृष्टि का टाइम मुकर्रिर कर रक्खा है? या किसी ने ईश्वर पर ऐसा आर्डर चलाया है कि इसी तरह से कार्य करते रहो? अथवा चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष का एक दिन और उतनी ही बड़ी रात ईश्वर के टाइमटेबिल में होती है? सो जब तक दिन रहा तब तक काम करते रहे, सृष्टि रचना का तमाम हिसाब रक्खा कि उस जीव को उसके गर्भ में भेजना है, अमुक जीव की उम्र खतम होने वाली है, उस जीव को कोतवाली मे भेजना है, वह जीव कालेपानी जाना चाहिये, उसका घर गिरना चाहिये, उसका पुत्र मरना चाहिये, अमुक के खाते मे पुण्य जमा हुआ, अमुक के खातेमें पाप का जमा खर्च बराबर है, इत्यादि मुनीमों के समान तमाम खाता उलट पुलट देखा और देनदार से लिया, लेनदार को दिया इत्यादि। दिन भर इसी धुन में लगे रहकर अन्य किसी ओर ध्यान न दिया और न कुछ आराम किया। फिर दिन समाप्त होने पर दीया जला काम करना ठीक न समझ दिन की थकावट मिटाने के लिये वही खाता बन्द करके सो गये। वहाँ खाता बन्द किया कि चट यहां चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष के लिये तमाम मशीनें बन्द ही नहीं किन्तु नष्ट भ्रष्ट हो कर प्रलय हो गई? ईश्वर के इस खेल को विचारो तो सही। तब

सत्यार्थ प्रकाश के २३३ वें पृष्ठ पर लिखी हुई सृष्टि रचना का आप गुजरा कर ही चुके हैं, जहां कि यह बतलाया है कि पृथ्वी आकाश, जल, वायु तथा यहां तक कि शरीर पैदा होने के पहले ही अहंकार से ईश्वर ने पांच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन को बना दिया। न जाने स्वामी जी ने बिना पृथ्वी आकाशके और शरीरके उन इन्द्रियोंको ठहरानेका कहां इन्तिज़ाम किया है।

प्रलय होना यद्यपि जैनधर्म मे भी माना गया है, किन्तु सकारण, सम्भवनीय और खण्ड रूप। प्रथम तो जैनधर्म ने प्रलय करने का महा दोष ईश्वर को नहीं सौंपा है, किन्तु उसके होने के कारण अतिशय भयङ्कर महातूफान (आंधी), अति जल वृष्टि और अग्नि वृष्टि आदि बतलाये हैं तथा इन कारणों से भी तमाम आकाश, पृथ्वी; सूर्य, चन्द्र आदि का प्रलय नहीं माना, जिससे कि फिर सृष्टि ही उत्पन्न न हो सके, किन्तु मकान, वृक्ष, तथा बहुत से जीवोंके शरीरका सर्वनाश होना माना है, गर्भज अण्डजादि जीवों के बहुत से युगल अवश्य रह जाते हैं। एवं ऐसी प्रलय भी सर्वत्र नहीं होती है, किन्तु कुछ क्षेत्रों में। जैसे गत वर्षों में भूकम्प आदि से जापान, विहार, क्वेटा आदिको इस वर्ष अतिवृष्टि से भारत वर्ष के कई स्थानों की प्रलय हुई है। यह छोटी प्रलय है, वह उपर्युक्त अनुसार बडी प्रलय होती है।

८—सृष्टि तथा प्रलय में गड़बड़ झाला

स्वामी दयानन्द जी ने वेदानुयायी मतों में अपनी

समझ से कहीं कुछ और कहीं कुछ त्रुटि देखी। उन त्रुटियों को हटाने हुए स्वामीजी ने अपना एक अलग सिद्धान्त बनाया, जिसको कि प्रचलित सुधारों से तथा साइन्स से मिलाने का उद्योग किया। तदनुसार ही वेदों का भाष्य कर डाला। जो बात उन्हें योग्य न मालूम हुई अथवा जिस बात से वेदों की निन्दा होती हुई देखी, उन बातों का वेदमन्त्रों का अर्थ पलट कर (जो कि किसी भी प्राचीन भाष्य से नहीं मिलता है) वेदों से हटा दिया।

इसी प्रकार सांख्य, योग, न्याय, वेदान्त आदि दर्शन को मान्य करते हुए उनके सूत्रों का अर्थ भी अपनी इच्छानुसार प्राचीन टीकाओं से विरुद्ध कर दिया और जहां जिससे अपने सिद्धान्त की पुष्टि होती देखी उसको ले लिया, शेष को छोड़ दिया।

छह दर्शन परस्पर विरुद्ध है। कोई ईश्वर मानता है, कोई नहीं। ईश्वर द्वारा सृष्टिरचना के विरुद्ध सांख्य आदि दर्शन हैं तो न्याय आदि दर्शन ईश्वर को संसार बनाने वाला कहते हैं इसी प्रकार पदार्थ, द्रव्य, गुण, मुक्ति, मुक्ति के साधन आदि विषयों में भी छहों दर्शन एकमत नहीं हैं, परस्पर विरुद्ध मत प्रगट करते हैं, किन्तु आर्यसमाज के जन्म दाता स्वामी दयानन्द जी सभी (छहों) दर्शन को प्रमाण मानते हैं, अपने आपको उनका अनुयायी बतलाते हैं। अब दार्शनिक

विद्वान् ही समझ सकते है कि स्वामी का मत कैसा जटिल है। अस्तु !

अब हम संक्षेप से यहाँ यह बतलाते हैं कि संसार के बनाने और बिगाडने यानी सृष्टि तथा प्रलय के विषय में स्वामी जी ने कैसी गडबडझाला की है।

सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास में स्वामी जी ने सृष्टि तथा प्रलय का वर्णन किया है। वहां २१८ वें पृष्ठ पर प्रश्नोत्तर रूप में यों लिखा है—

'(प्रश्न)—आदि किसको कहते है और अनादि पदार्थ कितने हैं? (उत्तर)— ईश्वर, जीव और जगत् का कारण ये तीन अनादि हैं।'

यहां ईश्वर, जीव, प्रकृति ये तीन पदार्थ नित्य माने है। इनकी न कभी सृष्टि होती है और न कभी प्रलय। इसी बात को पुष्ट करते हुए २१९वें पृष्ठ पर उपनिषद् का प्रमाण देते हैं—

'प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते।'

इस प्रकार यहां केवल ईश्वर जीव और प्रकृति ये तीन पदार्थ ही नित्य यानी सृष्टि प्रलयसे रहित स्वामी जी ने

बतलाये हैं। तथा इसी २१६ वें पृष्ठमें सांख्यदर्शन प्रथम अध्याय के १६ वें सूत्र 'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' इत्यादि सूत्रका प्रमाण देते हुये अर्थ में आपने यह भी बतला दिया है कि—

प्रकृति से महत्तत्व बुद्धि, उससे अहङ्कार, उससे पांच तन्मात्रा सूक्ष्मभूत और दश इन्द्रियां ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्रा ओं से पृथिव्यादि (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) पांच भूत, ये चौबीस और पच्चीसवां पुरुष अर्थात जीव और परमेश्वर है।

अर्थात—सृष्टि होते समय प्रकृतिसे महान, महान से अहङ्कार, अहङ्कार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि तन्मात्रा तथा कान, आंख नाक, जीभ, चमड़ा, वचन, हाथ, पैर गुदा, लिंग और मन-ये ग्यारह इन्द्रियां पैदा होती हैं। इसके पीछे शब्द से आकाश, शब्दस्पर्शसे हवा, शब्दस्पर्श रूपसे अग्नि शब्दस्पर्शरूपरससे पानी और शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध से पृथ्वी उत्पन्न होजाती है।

सांख्यदर्शन के अनुसार इस तरह से 'आकाश' शब्द तन्मात्रासे १६ वें नम्बर पर पैदा होता है। अर्थात सृष्टि के पहले आकाश नहीं होता, बहुत पीछे पैदा होता है। इस प्रकार यहां भी (सत्यार्थ प्रकाशके २१८-२१६ वें पृष्ठमे) स्वामीजीने आकाश को नित्य न मानकर पीछे पैदा हुआ माना है।

किन्तु सत्यार्थ प्रकाशके २३१ वें पृष्ठ पर स्वामी जी पलट जाते हैं और आकाशको नित्य मान कर यों लिखते हैं—

"वास्तव में आकाशकी उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि विना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें।"

यहां पर स्वामी जी ने सांख्य दर्शन के प्रथम अध्याय के ६१ वें सूत्र पर पानी फेरते हुए आकाश को नित्य लिख दिया कि आकाश की कभी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि आपको यहां याद आ गई कि प्रलयके समय प्रकृति, परमाणुओं को ठहरने के लिए स्थान चाहिये। उनको आकाश के बिना स्थान कौन देगा? इस लिये चलो यहां आकाशको भी नित्य कह दो, कौन १२-१३ पृष्ठ पहले की लिखी हुई हमारी बात को देखेगा।

अब आर्यसमाजी बतलावें कि सृष्टि के पहले आकाश था या नहीं? यदि नहीं था तो स्वामी जी का यह २३१ वें पृष्ठका लिखना गलत। और यदि था तो सांख्यदर्शन असत्य ठहरा।

आगे चलिये सत्यार्थप्रकाश के २२६ वें पृष्ठ पर सांख्य-दर्शन के 'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्' सूत्र का अर्थ करते हुए स्वामी जी आगे लिखते हैं कि—

"जगत की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर, प्रकृति काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने

से इस जगत की उत्पत्ति होती है। यदि इनमें से एक भी न हो तो जगत भी न हो।"

यहां पर स्वामी जी और भी आगे खिसक गये और सांख्यसूत्र का प्रमाण देते हुए समूचे सांख्य दर्शन को हड़प कर गये। यहाँ आप ५ पदार्थ नित्य बतला गये हैं। यहाँ काल पदार्थ भी नित्य होगया। ईश्वर के समान काल भी कभी पैदा नहीं होता।

आर्य्यसमाजी भाईयो! बतलाओ स्वामी जी की कौन सी बात सच है और कौन सी झूठ? पदार्थ ३ नित्य हैं या चार या पांच? और जब कि सांख्य-दर्शन के माने हुए २५ पदार्थों में काल कोई पदार्थ ही नहीं तब काल कोई पदार्थ है या नहीं। यदि नहीं है तो स्वामी जी का यह २२६ वें पृष्ठ का लेख असत्य हुआ और यदि है तो सांख्य दर्शन असत्य साबित हुआ। बताइये कौन सच्चा है और कौन झूठा है। स्वामी जी यहाँ सत्यार्थप्रकाश में प्रकृति को अनादि नित्य पदार्थ मान रहे हैं और डङ्के की चोट कह रहे हैं कि प्रकृति का प्रलय समय भी नाश नहीं होता, किन्तु देखिये वेद भाष्य में प्रकृति को भी स्वामी जी ने जड़मूल से सफाचट कर दिया।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (सृष्टिविद्या विषय प्रथम मन्त्र) पृ० १२२—१२३।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥

भावार्थ—"जब यह कार्यसृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्व-शक्तिमान परमेश्वर और दूसरा जगत का कारण अर्थात् जगत बनानेकी सामग्री विराजमान थी। उस समय शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रोंसे देखनेमें नहीं आता सोभी नहीं था। क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। उस कालमें सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिलाके जो प्रधान कहाता है, वह भी नहीं था। उस समय परमाणु भी नहीं थे। विराट् अर्थात जो सब स्थूल जगत के निवास का स्थान है सो भी नहीं था। इत्यादि।

इस मन्त्र के भाष्य-अर्थ में स्वामी जी ने खूब लीला दिखाई है। पहले तो कहते हैं कि सृष्टि के पहले परमेश्वर तथा जगत कारण यानी प्रकृति था। उसके बाद ही कहते हैं प्रकृति (प्रधान) नहीं था और प्रकृति भी 'सत्वरजस्तमसांसाम्यावस्था' वाली अव्यक्त रूप। यह परस्पर विरुद्ध बात क्या अर्थ प्रगट

करता है? दोनो में से कौन बात सत्य है? कौन असत्य है? इसको स्वर्गवासी स्वामी जी ही जानें।

यह बात अवश्य है कि मन्त्र में सृष्टि के पहले परमेश्वर और जगत के कारण के अस्तित्व का कुछ भी जिक्र नहीं है, उतनी बात स्वामी जी ने अपने पास से मिला दी है।

इसके आगे देखिये स्वामी जी जगत के कारण को भी प्रलय के समय सफाचट कर गये हैं। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ० १२४।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—ऋग्वेद म० ८ अ० ७ सू० ३ मंत्र १।

भावार्थ—हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहले वर्तमान था, जो इस सब जगत का स्वामी है और पृथ्वी से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत को रचके धारण कर रहा है। इस लिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देवकी ही हम लोग उपासना करें, अन्य को नहीं।

इस मन्त्र के भाष्य मे स्वामी जी ने जगत के कारण का भी बिल्कुल सफ़ाया कर दिया। जब कि वे सत्यार्थप्रकाश में कहीं तीन पदार्थ, कहीं पर चार और कहीं पर पांच पदार्थों को नित्य मानकर प्रलय के समय भी उनकी मौजूदगी बतलाते हैं,

तब ऋग्वेद तथा उनका भाष्य सिवाय ईश्वर के प्रलय में सबका अभाव कह कर सब को अनित्य बतलाता है। आर्यसमाजी भाइयो ! बतलाओ वेदों का कथन असत्य है या सत्यार्थप्रकाश का लिखना झूठा है ?

आर्यसमाज यदि अपने आपको वैदिक मतानुयायी मानता है तो उसको सब से अधिक विनय वेदमन्त्र की करनी होगी। तदनुसार उसे मानना पडेगा कि पूर्वोक्त 'नासदासीनो' इत्यादि दो मन्त्रों के मुआफिक सृष्टि के पहले सिवाय परमेश्वर के कुछ भी न था। न प्रकृति थी, न परमाणु थे, न आकाश था और न कोई जीव था। मतलब यह है कि ईश्वर को प्रकृति, परमाणु, आकाश, जीव आदि सभी पदार्थ बनाने पड़े। बेचारे मुक्त जीवों का भी प्रलय में खात्मा हो गया।

अब आर्यसमाजी सज्जन बतलावें कि प्रकृति, जीव आदि पदार्थों को नित्य कहने वाला सत्यार्थ प्रकाश सच्चा ? अथवा सृष्टि के पहले प्रकृति, परमाणु आदि समूल सत्ता मिटाने वाला यह वेदमन्त्र सच्चा ? या सांख्यदर्शन का लिखना सत्य है ? स्वामी जी ने आर्यसमाज के लिये ऐसा विकट जाल तयार कर दिया कि इसमें से आर्यसमाज ज्यों ज्यों निकलने की कोशिश

करेगा, त्यों त्यों ज़्यादा फंसता जायगा। सांप छछूंदर की गति यहां पर सृष्टि और प्रलय के विषय मे आर्यसमाज के लिये बन गई। तीनों ग्रन्थों के परस्पर विरुद्ध कथनों मे से न तो किसी को आर्यसमाजी सच कह सकते है और न झूठ ही ठहरा सकते है।

मुक्त जीवों की दुर्दशा

स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाशके २७५ वें पृष्ठ पर यो लिखा है कि—

"दूसरा स्वाभाविक जो जीव के स्वाभाविक गुण रूप है यह दूसरा और **भौतिक शरीर मुक्ति में रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है।"**

अर्थात्—मुक्त जीवों के भौतिक शरीर होता है। इस भौतिक शरीर के विना मुक्त जीव सुख नहीं भोग सकते।

किन्तु पूर्वोक्त 'नासदासीन्नो' इत्यादि वेदमन्त्र के अर्थ में स्वामी जी साफ़ बतलाते है कि सृष्टि के पहले यानी प्रलयके समय में प्रकृति, परमाणु आदि कुछ भी नहीं रहता। पृथिवी आदि पांच भूत प्रकृति से ही बनते हैं। इस कारण यह बात अपने आप माननी पड़ेगी कि प्रलय दशामें प्रकृति के न होने से सूक्ष्म पांच भूत तन्निर्मित या सूक्ष्म भौतिक शरीर नहीं हो सकते।

फिर स्वामी जी के बतलाये हुये मुक्त जीवों की क्या दशा होती होगी सो पता नहीं, क्योंकि प्रलयसे भौतिक शरीर बच नहीं सकता जबकि उसकी जननी प्रकृति ही नष्ट होजाती है तब मुक्तजीव शरीर न रहने से सुख भोगने वाले नहीं रह पाते।

इस कारण मार्ग दो ही हैं या तो मुक्त जीवों के भौतिक शरीर न माना जाय, तब सत्यार्थ प्रकाश, का लिखना असत्य ठहरता है। और उसके अनुसार मुक्त जीव प्रलय के दिनों में वञ्चित रह जावेंगे। अथवा मुक्त जीवों के भौतिक शरीर प्रलय समय में भी माना जावे और पूर्वोक्त 'नासदासीन्नो' इत्यादि वेद मन्त्र को झूठा कह कर स्वामी जी के 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' ग्रन्थको अप्रमाणित कह दिया जावे।

पत्र, 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' इत्यादि मन्त्र के अनुसार साफ तौर से प्रलय समय में ईश्वरके सिवाय कुछ भी नहीं रहता, तदनुसार मुक्त जीव भी नेस्त नाबूद होगये। ईश्वर की प्रलय ने उनका भी समूचा सत्तानाश कर दिया।

अब आर्यसमाज के लिये भी 'सांप छछूंदर' से भी विकट समस्या यहां पर तैयार होगई। आर्यसमाज निर्णय करे कि वेद सच्चे हैं या सत्यार्थ प्रकाश सच्चा है।

[५]

संसार का सार परिचय

विचारशील महानुभावो! ससारकी रचना का तथा

प्रलयका जो विचित्र चित्र स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश में लिख दिया है उसकी समालोचना काफी तौरसे होचुकी है। अब हम संसारके विषयमे जैनधर्म का संक्षिप्त अभिप्राय प्रगट करते हैं जिसको कि आप विचार और विज्ञान (साइन्स) के कांटे पर तोलनेकी कृपा करें।

जैनधर्मका सिद्धान्त है कि विद्यमान पदार्थ (मौजूदा चीज) का कभी नाश नहीं होता और अविद्यमान (गैर मौजूदा) पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि यदि सत् पदार्थ का नाश होने लगे तो ससारके पदार्थ क्रमशः नष्ट होकर कम होते चले जांयगे और यदि असत् वस्तु भी उत्पन्न होने लगे तो फिर चीजों की पैदायशका कोई नियम भी न रहेगा, विना माता पिताके भी मनुष्य उत्पन्न होने लगेंगे। इत्यादि।

जैनदर्शन के इस नियमको साइन्स ने भी ज्यो का त्यों स्वीकार किया है। इस कारण जैन सिद्धान्त प्रत्येक पदार्थ को स्वभाव से अनादि अनन्त यानी आदि और अन्त से रहित मानता है। इसी आधार पर उसका कहना है कि जो पदार्थ हमको आज दीख पडता है वह सदा से था और सदा ही रहेगा। न तो कभी वह उत्पन्न हुआ था और न नष्ट ही होगा। हां कारणों के अनुसार उसकी दशा बदलती रहेगी इस दशा बदलने का नाम पर्याय है।

यह संसार जो कुछ हमको दीख रहा है जड (जीवन-रहित) और चेतन (जीव) पदार्थों से बना हुआ ढांचा है। इस का यह साधारण ढांचा तो कभी बिगड़ने नहीं पाता, क्योंकि दोनों तरह के पदार्थ अविनाशी हैं। किन्तु इसका विशेष ढांचा हर समय कुछ न कुछ पलटता रहता है, क्योंकि दोनों प्रकार के पदार्थोंकी हालतें प्रति क्षण बदलती रहती हैं।

पदार्थों की जो पर्याय (दशा) बदलती रहती हैं उसके दो कारण हैं—एक तो पदार्थ की अन्दरूनी निजी शक्ति, दूसरे बाह्य इतर साधन। जैसे मिट्टी में अनेक शक्लें होने की ताकत मौजूद है. उसे यदि मूर्तिकार ले जाय तो उससे खिलौने बना देता है, यदि हर्म्यकार (मकान बनाने वाला) पा ले तो उससे मकान तयार कर देता है। कदाचित कुम्हार के हाथ वही मिट्टी पड़ गई तो घड़े बन कर तयार हो जाते हैं। इसी प्रकार एक जीव को यदि कर्मवश किसी महिला का गर्भाशय मिला तो वह मनुष्य शरीर मे हो जाता है। यदि उसी को कभी गाय का गर्भाशय मिल जावे तो गाय बैल के शरीर मे रहना पडता है। इस प्रकार कारणों के अनुसार पदार्थों की दशायें बदलती रहती हैं। तदनुसार संसार की हालत भी बदलती रहती है। कभी कहीं जङ्गल, कभी वहीं पर नगर, कभी कहीं बढ़वारी तो कभी कहीं घटवारी, कभी वर्षा, कभी शर्दी, तो कारणों के अनुसार कभी गर्मी, कहीं भूकम्प, तो कहीं उल्कापात इत्यादि जहां जैसे

कारण आ जुटते हैं वहां वैसे कार्य होने लगते हैं।

पदार्थों की नवीन नवीन हालतों के बनने बिगड़ने के कारण अनियत नहीं है, किन्तु नियत (खास मुकर्रर) हैं। जैसे मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति स्त्री पुरुष के रजवीर्य मिलने से और कुत्ते की उत्पत्ति कुत्ते कुतिया का रजवीर्य मिलने से हो जाती है, आम का पौद्रा आम के बीज से और गेहूं का पेड गेहूं के बीज से उत्पन्न होता है। अन्य की उत्पत्ति अन्य से नहीं होती, जो जीव स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होने वाले) और उद्भिज हैं वे भी अपने विशेष २ कारणों के मिल जाने पर उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ वह चाहे जड़ हो या चेतन, स्थावर हो या जङ्गम, अपने नियत कारण से ही अपनी पर्याय उत्पन्न करेगा। यह एक अटल नियम है जिसको कि प्रत्येक पुरुष जानता है। इस लिये मनुष्य पेड से उत्पन्न नहीं हो सकता और न आम स्त्री के पेट में पैदा हो सकता है।

जब कि पदार्थों के पर्याय परिवर्तन (उत्पत्ति) का ऐसा नियम है तब यह बात भी स्वतः बेरोकटोक सिद्ध है कि पदार्थ जिस दशामें आज विद्यमान हैं उनकी वैसी दशाएं अनादि परम्परा से थीं। मनुष्य जो आज दीख पडते हैं वे हमेशा से थे, क्योंकि मनुष्यसे ही मनुष्य उत्पन्न होते हैं। हम आज विद्यमान हैं तो हमको उत्पन्न करने वाले माता-पिताओंकी पूर्वपरम्परा रहना नियमानुसार आवश्यक है। इस कारण भली भांति सिद्ध

होता है कि पहले कोई भी ऐसा समय नहीं था जबकि मनुष्य जाति सर्वथा संसारमें न हो और न कभी ऐसा होगा कि मनुष्य जाति सर्वथा विनाश होकर भी पुनः मनुष्यों की उत्पत्ति नये सिरे से पाई जावे। यही बात प्रत्येक पदार्थ के विषय में सिद्ध होती है। अपने २ नियत उपादान तथा निमित्त कारणों के बिना उनका प्रादुर्भाव 'न भूतो न भविष्यति' (न हुआ और न होगा)।

इसी प्रकार विनाश के विषय में भी जैनदर्शन यही कहता है कि पदार्थ की दशा का विनाश भी अपने २ नियत उपादान और निमित्त कारणों से ही होता है। मनुष्य में मरने की शक्ति स्वयं विद्यमान है और विष उसका निमित्त कारण है। उसने विष खाया तो मर गया। विष सभी पदार्थों को मारने यानी नष्ट करने का कारण नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो पत्थर के खरल में रख देने पर खरल को भी नष्ट कर देना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। इसी तरह मनुष्यमें प्रत्येक पदार्थ के संयोग से ही मरने की शक्ति हो तो दूध पीने से भी उसे मर जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। इस कारण परिणाम निकलता है कि पदार्थों की हालतें बिगड़ने के लिये भी भिन्न २ प्रकार के कारण नियत (मुकर्रिर) हैं। कारण मिलने पर ही नष्ट होते हैं, अन्यथा नहीं। पदार्थों की पर्याय पलटने की भी यही नियम अटल है।

जब कि पदार्थों के नष्ट होनेका उपर्युक्त नियम है, तब यह

बात सरल मार्गसे सिद्ध होजाती है कि यह समस्त संसार कभी भी नष्ट नहीं हुआ था और न कभी होगा ही। क्योंकि ऐसे सर्व विनाश का कोई कारण नहीं। समस्त भूमण्डल का, समस्त आकाश मण्डलका, सूर्य, चन्द्र, तारे आदि का सर्वनाश करने वाला कोई कारण बुद्धिगोचर नहीं होता। इन के सिवाय अन्य भी जो पदार्थ ससारमे विद्यमान हैं उनकी सत्ता भी मेटने वाला कोई कारण प्रतीत नहीं होता। इस बातके सिद्ध होने में दूसरा कारण यह है कि यदि सर्व संहार ही होजाय तो फिर उसके आगे पदार्थोंकी उत्पत्ति किस प्रकार हो, क्योंकि पदार्थों का अपने अपने नियत, उपादान निमित्त कारणों के अभाव होजाने पर उत्पन्न होना असम्भव है। अतः समस्त मनुष्य जाति का सहार होजाने पर फिर मनुष्य उत्पन्न होना किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये ससारका सर्वविनाश जिसको कि स्वामी जी प्रलय कहते हैं न तो कभी पहले हुआ, क्यों कि ससार आज पदार्थ मालामे भरा हुआ दीख रहा है और न कभी आगे ऐसा सर्वनाश होगा क्यों कि उसका कोई प्रमाणिक कारण नहीं है।

इस प्रकार जड चेतन पदार्थों से भरा हुआ यह संसार अनादि काल से ऐसा ही विद्यमान है और अनन्तकाल तक ऐसा ही रहेगा; यानी इस के उत्पन्न और नष्ट होने का कोई समय नहीं है।

इस से यह बात स्वय सिद्ध हो गई कि संसार को न

तो किसी ने बनाया था, न बनावेगा और न किसी ने इसे बिगाड़ा था, न बिगाड़ेगा। इस के अन्दर जो पदार्थ विद्यमान हैं वे ही एक दूसरे का सम्बन्ध पाकर तरह तरह की अनेक दशाओं में उत्पन्न होंगे और नष्ट होंगे।

जैनधर्म का संसार व्यवस्था के विषय में यह संक्षेप सिद्धान्त है जो कि युक्तियों से, साइन्स से तथा प्रमाणों से पूर्णतया सत्य है। पाठक महाशय अब स्वयं अपने निष्पक्ष हृदय से विचार लें कि जैनदर्शन ने जो जगत का ईश्वरद्वारा निर्माण और विनाश नहीं माना है वह सत्य है या असत्य?

[६]

क्या ईश्वर कर्मफल देता है?

सृष्टिरचना के विषय पर काफी प्रकाश पहिले ही पड़ चुका है। अतः उसे समझ लेने पर जगत के अनादिपने में कुछ भी सन्देह रहने का स्थान नहीं रहता। आगे—

ईश्वर को सृष्टिकर्ता सिद्ध करने के लिये स्वामी जी ने जीवों को उन के कर्मों का फल देने वाले की आवश्यकता बतलाई है और उस आवश्यकता की पूर्ति ईश्वर द्वारा ही सिद्ध की है। जैसा कि सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४४५ वें पर अपने को आस्तिक और जैनों को नास्तिक उल्लेख करके प्रश्न के उत्तर रूप में लिखा है कि "यदि ईश्वर फलप्रदाता न हो तो पाप के फल दुःखको जीव अपनी इच्छा

से कभी न भागेगा; जैसे चोर आदि चोरी का फल अपनी इच्छा से नहीं भोगते, किन्तु राज्य-व्यवस्था से भोगते हैं। वैसे ही परमेश्वर के भुगाने से जीव पाप और पुण्यके फलोंको भोगते हैं। अन्यथा कर्मसंकर हो जांयगे, अन्यके कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे।"

स्वामी जी के इस लेख का ३-४ प्रकार से विचार करते हैं—प्रथम तो रागद्वेष रहित निर्विकार पवित्र आनन्द स्वरूप ईश्वर को जीवों के कर्मों का फल देने मे गर्ज क्या है? किस कारण के वश होकर उसे यह करना पड़ता है? क्या जीव ईश्वर को कुछ कष्ट पहुचाते हैं या उसके राज्यशासन को भङ्ग करते हैं? जिससे ईश्वर को दण्ड, अनुग्रह करना पड़ता है। राजा चोर आदि को दण्ड इसीलिये देता है कि वे उस की आज्ञा का अपमान करते हैं, उसकी पुत्र तुल्य प्रजा को हानि पहुचाते हैं, वह अपनी प्रजा की रक्षा के प्रेम से तथा चोर पर कुपित-भाव से परवश होकर चोर को उसके कुकर्म की सज़ा देता है। जब कि ईश्वर का किसी पर द्वेष नहीं है, उसे अपना राज्य जमाना नहीं है तथा अन्य किसी स्वार्थ को गांठने की उसे इच्छा नहीं है, सर्वथा स्वतन्त्र पाक दिल है, फिर वह कर्मफल देने के लिये क्यों बाध्य है? क्या वह फल दिये बिना ईश्वर

पद में नहीं रहेगा ? अतः यहां दो बातें हैं कि या तो ईश्वर को रागी द्वेषी माना जाय, क्योंकि किसी भी कार्य में लगना राग और द्वेष की वजह से ही होता है। वह जब जीवों को फल देने का कार्य करता है, तब उसके राग द्वेष होना अनिवार्य होगा और उस हालत में वह निर्विकार, पवित्र न रह सकेगा। अथवा उसे निर्विकार मान कर मुक्त जीवों के समान इस झगड़े से अलग ही माना जावे; विचारिये—

एक यह बात भी विचारना है कि ईश्वर जीवों को कर्म का फल किस प्रकार से देता है ? वह स्वयं साक्षात् तो दे नहीं सकता, क्योंकि वह निराकर है और यदि वह साक्षात् खुद ही कर्मों का फल देता तो इस बात को कौन नहीं स्वीकार करता। यदि वह राजा आदि द्वारा जीवों को अपने कर्मफलो का दण्ड दिलाता है तो ईश्वर के लिये बड़ी आपत्तियां खड़ी होती हैं, उन्हें सुनिये—ईश्वर को धनिक के धनको चुरवा देकर या लुटवा कर उस धनिक के पूर्व कर्म का फल देना है, तो ईश्वर इस कार्य को खुद तो आ कर करेगा नहीं, किसी चोर या डाकू से ही वह ऐसा करावेगा, तो इस हालत में जिस चोर या डाकू द्वारा ईश्वर ऐसा फल उस धनिक को भुगावेगा, वह चोर ईश्वर की आज्ञा का पालक होने से निर्दोष होगा। फिर उसे दोषी ठहरा कर जो पुलिस पकड़ती है और सज़ा देती है, वह ईश्वर के न्याय से बाहर की बात है। यदि उसे भी ईश्वर के न्याय में सम्मि-लित कर चोर को चोरी की सज़ा पुलिस द्वारा दिलाना आव-

श्यक समझा जाय तो यह ईश्वर का अच्छा अन्धेर न्याय है कि इधर तो खुद धनिक को दण्ड देने के लिये चोर को उसके घर भेजे और उधर पुलिस द्वारा उस चोर को पकड़वा दे। क्या यह "चौर से चारी करने को कहे और शाह से जागने की कहे" इस कहावत के अनुसार ईश्वर मे दोगला पन नहीं आवेगा? इसी प्रकार जीवो को प्राणदण्ड देने के लिये ईश्वर ने कसाई, चांडाल तथा सिंह आदि जीव पैदा किये। तदनुसार वे प्रतिदिन हजारों जीवो को मार कर उनके कर्म का फल उन्हें देते है तो वे भी निर्दोष समझे जाने चाहिये। क्योंकि वे तो ईश्वर की प्रेरणा के अनुसार कार्य कर रहे है। यदि ईश्वर उन्हें निर्दोष माने तब तो उस के लिये अन्य सभी जीव जो कि दूसरोंको किसी न किसी प्रकार हानि पहुचाते है, निर्दोष ही होने चाहिये। यदि उन्हें दोषी मानें तो महा अन्याय होगा, क्योंकि राजा की आज्ञानुसार अपराधियों को अपराध का दण्ड देने वाले जेलदारोगा फांसी लगाने वाले चाण्डाल आदि जब न्याय से निर्दोष माने जाते है, तब उन के समान ईश्वर की प्रेरणा अनुसार अपराधियों को अपराधका दण्ड देने वाले दोषी न होने चाहिये।

इसी कर्मफल देनेके सम्बन्धमें एक बात और भी विचारणीय है, वह यह है कि— ईश्वर सर्वशक्ति सम्पन्न है। उसके

उसके द्वारा मिली हुई अशुभ कर्मों की सजा अलंघनीय, अनिवार्य और अमिट होनी चाहिये; किन्तु ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। देखिये—

"ईश्वरने प० रामचन्द्र जी को उनके किसी पहले अशुभ कर्मका दंड देकर उनकी आंखकी नजर कमजोर करदी। वे अब न तो दूरकी वस्तु साफ देख सकते है और न छोटे अक्षरो की पुस्तक ही पढ़ सकते हैं।"

ईश्वरका दिया हुआ यह दंड अमिट होना चाहिये था किन्तु रामचन्द्र जीने नेत्र परीक्षक डाक्टर से अपनी दृष्टि के अनु-सार एक उपनेत्र (चश्मा) ले लिया। उस ऐनक को लगाकर उन्होंने ईश्वरकी दी हुई सजाको निष्फल कर दिया। वे ऐनकसे दूरकी चीज साफ देखते हैं और बारीक से बारीक अक्षर भी पढ़ लेते हैं।

ईश्वर जापान में बार २ भूकम्प भेजकर उसको मटिया-मेट कर देना चाहता है किन्तु जापान वासियों ने हलके मकान बनाकर भूकम्पों को बहुत कुछ निष्फल बना दिया है। ईश्वर प्लेग और हैजा भेजकर उस नगरके निवासियों का सफाया करना चाहता है किन्तु सेवा समितियां अपने प्रबल उपाय से ईश्वरकी सजाको न कुछ के बराबर कर देती हैं।

कर्मोंका फल भुगाने के लिये भूकम्प भेजते समय ईश्वर को यह भी खयाल नहीं रहता कि मै अपनी उपासना होने वाले स्थान, मन्दिरों आदि तथा उपासकों की सम्पत्ति नष्ट न होने दूं।

किन्तु मनुष्य की शक्ति देखो कि वह अनेक तरह के उपायों से ईश्वर द्वारा मिले दंड (सज़ा) को विफल (बेकार) या निबल (कमज़ोर) कर देता है।

आर्यसमाजी महाशयो ! बतलाइये कि क्या ईश्वर द्वारा मिलने वाली सजा में कोई रत्ती भर भी रद्दोबदल कर सकता है ? यदि नहीं, तो फिर सेवक, सेवासमिति आदिने ईश्वर के दिये दुख दर्दों को कैसे कमजोर कर दिया ?

तथा कर्मफल का देने वाला यदि कोई बुद्धिमान होता है तो अपराधीको अपराधका फल देने समय वह दो बातें करता है। एक तो उसे उसका अपराध बतलाता है कि तैने यह अपराध किया है, इस कारण तुझे यह दण्ड दिया जारहा है। दूसरे वह उसके लिये ऐसा प्रबन्ध रखता है जिससे कि वह फिर वैसा अपराध न कर सके; जैसे कि किसी को जेल, किसी को काला पानी और किसी पर पुलिसकी कड़ी निगाह आदि। इससे परिणाम यह निकलता है कि वह अपराधी आइन्दा उस कसूर को नहीं कर पाता।

जबकि हम ईश्वरकी ओर देखते हैं तो यह दोनो ही बातें नहीं हैं। न तो वह फल देते समय जीवों को यह बतलाता है कि " देखो तुमने पहले ऐसे कर्म किये थे, उसका दण्ड तुम्हें यह दिया जाता है, आइन्दा के लिये सावधान रहना" और न वह दण्ड ही ऐसा देता है जिससे कि वह जीव आगे के लिये वैसा बुरा काम न कर सके। सत्यार्थ प्रकाश के नौवें समुल्लास

मे २६७ वें पेज पर स्वामी जी लिखते हैं कि—

"जो नर शरीर से चोरो, परस्त्री गमन, श्रेष्ठोंका मारना आदि दुष्ट कर्म करता है उसको वृत्तादि स्थावर का जन्म, वाणी से किये पाप कर्मों से पक्षो और मृगादि तथा मनसे किये दुष्ट कर्मोंसे चांडाल आदिका शरीर मिलता है।"

अब विचारिये कि जीवो ने पापकर्म किये, ईश्वर को दण्ड ऐसा देना चाहिये था कि आगे वे वैसा कार्य न करने पावें, किन्तु किया उसने इसके विरुद्ध, यानी उन्हें और अधिक पाप करने के लिये चांडाल आदि बना दिया। क्या न्याय इसी का नाम है? क्या कोई भी जज (न्यायाधीश) ऐसा दण्ड देता हुआ देखा या सुना है जो कि दण्ड देने के बहाने से अपराधी को ऐसा बना दे कि वह और भी अधिक वैसे अपराध करे। क्या ईश्वर का ऐसा फल देना अन्याय नहीं है? क्या ईश्वर को इस बात में आनन्द मिलता है कि जीव आगे को और अधिक पाप करे तो मैं भी इसे और अधिक दुख दूं? विचारिये, कर्मफल-दाता ईश्वर को मानने से उसके मस्तक पर यह अन्याय चढ़ता है या नहीं।

और भी देखिये, ईश्वर सर्वज्ञ और साथ ही सर्वशक्ति-मान होता हुआ स्वामी जी के लिखे अनुसार कर्मफलदाता भी है। जब यह बात सच है तो वह जीवो से बुरे कर्म होने ही

क्यों देता है ? वह जानता है कि अमुक जीव अमुक खोटा काम करने वाला है, जिससे कि मुझे उसके लिये अमुक सज़ा देनी पड़ेगी, ऐसा समझ कर भी ईश्वर जो उसे अपनी शक्ति से न रोकता है और न उसे उसका अपराध सुझाता है क्या यह ईश्वर का न्याय है ? ऐसा कौन न्यायी पिता या जज है जोकि अपने पुत्र को या किसी आदमी को खराब काम करते देख अपनी शक्ति से उसे न रोकेगा। क्योंकि ऐसा यदि वह न करे तो लोग उसे दुष्ट कहें, दयालु कभी न कहें। विचारिये कि ईश्वर की दयालुता, सर्वशक्ति और सर्वज्ञता का क्या यही सदुपयोग है ?

तथा—ईश्वर जीवों को उनके कर्म का फल किस तरह दे सकता है, क्योंकि वह निराकार है। निराकार से साकार को हरकत पहुंचना बिलकुल असम्भव है, जैसे आकाश से। इस लिये ईश्वर निराकार होने से जीवों को कर्मफल नहीं दे सकता। कुछ ही दिन हुए जापान में फूजियामा नामक ज्वालामुखी पहाड़ फूट पड़ा था, जिसके कारण जापान में भयङ्कर भूकम्प होने से तथा आग लग जाने से जापान की राजधानी का नगर आधा नष्ट हो गया और लाखों आदमी एकदम बुरी हालत में मर गये, तो क्या यह ईश्वर की ही कृपा थी ? गत वर्षों में अति वृष्टि के कारण चीन में लाखों आदमी तथा भारतवर्ष में भी लाखों आदमी यहाँ तक कि धर्म-कर्म में लगे रहने वाले ऋषीकेश के २०० साधु भी पानी में डूब गये, हजारों घर, गांव, पशु जल मग्न हो गये, क्या यह भी परमात्मा ने अंधों

को उनके कर्म का फल दिया था? विहार को तथा क्वेटा में चैन मे सोते हुए मनुष्यों को भूकम्प से मार डाला। दयालुता सोचिये

स्वामी जी की यह युक्ति बहुत कमज़ोर है कि जीव कर्म फल अपने आप नहीं भोग सकते, उनके लिये फलदाता ईश्वर अवश्य चाहिये। क्योंकि यद्यपि कोई अपनी इच्छा से दुःख नहीं भोगना चाहता. किन्तु फिर भी हम प्रतिदिन देखते हैं कि सेकडों जीव अपने किये हुए कार्य का फल बिना किसी के दिये खुद पा लेते हैं। देखिये! लोगों को सभाएं प्रस्ताव करके समझाती हैं कि अपने पुत्र पुत्रियों को पढाओ और उनका बाल-विवाह मत करो; अपनी पुत्री को वृद्ध पुरुष के साथ मत विवाहो किन्तु बहुत से लोग ऐसा नहीं मानते और इसके विरुद्ध कर डालते हैं। परिणाम यह निकलता है कि उनकी संतान मूर्ख रह कर उनका धन और यश नष्ट कर देती है और छोटी आयु में विषय भोग के फंदे से अपने शरीर को गला कर थोडे समय पीछे ही चल बसती है। वृद्ध बाबा को विवाही हुई उनकी पुत्री कुछ दिन बाद ही विधवा हो कर अपने बाप को उसके कर्तव्य का नतीजा दिखाती है। शराबी मनुष्य लोगों की मनाही करने पर भी शराब पी लेता है, किन्तु फिर उसे अचेत हो कर दुःख भोगना पडता है। रोगी मनुष्य वैद्य बहुत सी चीजें खाने का परहेज बतलाता है, किन्तु जिह्वा के लोलुपी होकर उसे तोड देते हैं। फल यह होता है, कि उनका रोग और भी बढ़ जाता है। तो क्या यह सब फल ईश्वर द्वारा ही दिया जाता है? उत्तर में आप यही कहेंगे कि नहीं, यह तो

नियमानुसार बिना किसी के दिये खुद मिल जाता है। यदि ऐसा है तो स्वामी जी का यह हेतु कि फल देने वाला कोई बुद्धिमान अवश्य चाहिये असिद्ध है, इत्यादि अनेक उदाहरणों से आप निश्चय करेंगे कि अनेक कर्मों का फल स्वयमेव प्राप्त होता रहता है, किसी भी फल देने वाले बुद्धिमान व्यक्ति की जरूरत नहीं होती। इस लिये यह भी निश्चय होता है कि कर्मफल भुगाने की अपेक्षा से भी ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानना गलत है।

अन्तमे इस विषयको समाप्त करते हुये हम एक ऐसा प्रमाण आपके सामने रख देना अच्छा समझते हैं जिसे आप सहर्ष स्वीकार कर लें। भगवद्गीता जोकि स्वय श्रीकृष्ण जीका उपदेश माना जाता है और जिसके लिखने को आप भी स्वामी जी की अपेक्षा अधिक सत्य समझते होंगे, उसके पांचवें अध्याय मे लिखा है कि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न कस्य सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

अर्थात ईश्वर न तो सृष्टि बनाता है, न कर्म ही रचता है और न कर्मों के फलोंको ही देता है, न तो वह किसीका पाप लेता तथा न किसीका पुण्य ही लेता है। अज्ञान से ढके हुये ज्ञान द्वारा जीव मोहमे फस जाते हैं।

कहिये मित्रो ! जबकि कृष्ण जी गीता से साफ तौर पर ईश्वर द्वारा सृष्टि-रचना तथा कर्मफल देनेका निषेध करते हैं और ऐसा माननेको अज्ञान बतलाते हैं। तब फिर जैन धर्मका सिद्धांत असत्य क्यों और स्वामी जी का लिखना सत्य किस कारण है ? सच्चे दिलसे विचारिये।

एवं सांख्यदर्शन जिसको कि स्वामी जी ने भी प्रमाण माना है 'नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः इत्यादि सूत्रों से, ईश्वर द्वारा कर्मों के फल देनेका जोरदार निषेध करता है। (सांख्यदर्शन की प्राचीन टीका देखिये) इस दशामें स्वामी जी का कहना अपने आप निकम्मा होजाता है।

[७]

जैनधर्मका कर्म-सिद्धान्त

प्रिय मान्य महाशयो ! स्वामीजी ने जो ईश्वरको सृष्टि-कर्ता न मानने के कारण जैनधर्मको दोषी ठहराया है और उस पर अनेक अनुचित अपशब्दो की वर्षा की है, उसका निराकरण हम पूरे तौर से आपके सामने रख चुके हैं, जोकि जैनधर्म मे बहुत फैलाव के साथ वर्णन किया गया है।

यद्यपि कर्म शब्दके अनेक अर्थ हैं, अतः उसका व्यवहार अनेक रूपमें अनेक तरहसे होता है, जैसे कि—साधारण तौरसे कर्म शब्दका अर्थ काम-धंदा (किसी भी प्रकार का अच्छा या बुरा कार्य) किया जाता है। मीमांसक लोग यज्ञ-याग आदि क्रियाओं

को वैयाकरण 'कर्ता अपनी क्रियासे जिसे पाना चाहता है उसको' नैयायिक उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदिको कर्म शब्दसे पुकारते हैं। किन्तु जैन धर्म में कर्म शब्द के दो अर्थ माने है। एक तो राग द्वेष आदि आत्मा के अशुद्ध भाव और दूसरे क्रोध, मान आदि कषायों के निमित्त से आत्मा के साथ दूध पानीके समान एकमेक हुई कार्माण जाति की पुद्गल वर्गणाएं। इनमें से दूसरे अर्थ के लिये कर्म शब्द का प्रयोग अधिकतर आया करता है। इस कर्म शब्द के अभिप्राय से कुछ अंशों मे मिलते जुलते अजैन दार्शनिकों के प्रकृति, भाग्य, दैव, अदृष्ट, माया, अविद्या, धर्माधर्म आदि शब्द है।

जीव जब कोई भी अच्छा या बुरा कार्य मनसे विचारता है अथवा वचन से कहता है या शरीर द्वारा करता है, उस समय आत्मा मे इस कार्य के निमित्त से कम्प (हलन चलन) पैदा होता है। इस कारण अपने समीप के कार्माण (कर्म रूप होने लायक) परमाणुओं को (वर्गणाओं को) खींच कर (कशिश करके) अपने मे मिला लेता है, जैसे गर्म लोहा पानी को खींच लेता है। परमाणु यद्यपि अचेतन होते है किन्तु आत्मा के क्रोध मान आदि कषाय के सम्बन्ध से उनमे आत्मा के ज्ञान आदि गुणों के ढकने की शक्ति प्रगट हो जाती है। इस लिये अपना समय आने पर वे कर्म अच्छा बुरा फल देकर अलग हो जाते हैं।

इस विषय को उदाहरण से मोटे रूप में यों समझ लीजिए कि एक मनुष्य ने शराब को पिया, वह कुछ देर तक तो होश में रहा लेकिन थोडी देर पीछे जब शराब का नशा उस पर चढ़ा

तब वह बेहोश हो गया और उस समय वह पागलपन की बहुत सी खराब चेष्टाएं करता रहा, किन्तु फिर उस नशे के उतरते ही वह होश मे आ गया। कर्मों की हालत ठीक इसी प्रकार की है। शराब का नशा जैसे काच की बोतल, मिट्टी के प्याले आदि जड़ पदार्थों पर नहीं चढ़ता है और न वे उसके सम्बन्ध से उछलने कूदने ही लगते हैं, क्योंकि शराब का नशा चेतन पदार्थ के संयोग से ही प्रगट होता है, इसी प्रकार कर्म परमाणुओं में भी आत्मा का सम्बन्ध पाकर उसके ज्ञान आदि गुणों को ढकने तथा बिगाड़ने की ताकत प्रगट हो जाती है, जिससे कि वे जीव को संसार के भीतर तरह तरह के खेल खिलाते हैं।

कर्मों की सत्ता, अनुमान से इस प्रकार सिद्ध होती है कि मनुष्य, पशु पत्ती आदि संसारी जीव पराधीन , क्योंकि वे अपनी इच्छानुसार (मर्जी मुआफिक) कार्य नहीं कर पाते, सदा सुखी, पूर्ण ज्ञानी रहना चाह कर भी दुखों के और अज्ञान के पंजे में फंस जाते हैं, चाहते कुछ है और हो कुछ और ही जाता है। इस लिये सिद्ध होता है कि उन्हें (संसारी जीवों को) परतन्त्र रखने वाला कोई पदार्थ अवश्य है। जब उस कारण का पता चलाते है तब बाहर दृश्यमान (दीख पड़ने वाला) तो कोई पदार्थ जीवों को पराधीन रखनेका कारण सिद्ध नहीं होता। ईश्वर से यह कार्य होना असम्भव है, क्योंकि वह निराकार, अशरीर, निर्लेप, क्रिया रहित है। सशरीर जीवों को अशरीर अमूर्तिक पदार्थ किसी भी तरह पराधीन नहीं कर

सकता । अत: अन्त में मानना पडता है कि कोई ऐसी मूर्तिक चीज है जो कि आत्मा के साथ लगी हुई है, जिसके बन्धन से आत्मा स्वतन्त्र नहीं होता । बस, उसी मूर्तिक चीज का नाम 'कर्म' है।

इसी बात को दूसरी तरह यों समझ लीजिए कि संसार मे कोई जीव मनुष्य, कोई पशु पक्षी, कोई धनिक, कोई निर्धन, कोई बुद्धिमान विद्वान और कोई मनुष्य मूर्ख दीख पडता है। दो व्यापारी साथ २ एक सा व्यापार करते है, किन्तु एक को उसमें लाभ और दूसरे को हानि मिलती है। दो विद्यार्थी एक साथ एक गुरु से पढ़ना शुरू करते है और शक्ति भर परिश्रम करते हैं, किन्तु उनमें से एक पढ़ कर विद्वान हो जाता है और दूसरा मूर्ख रह जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि बराबरी का दावा होने पर भी ऐसा भेद क्यों पड जाता है ? विचार करने पर इस भेदभाव का डालने वाला कारण कर्म ही सिद्ध होता है। जिसने कभी पहले समय मे अच्छे काम करके शुभ कर्म पैदा किया था, उसे अपने कार्य में सफलता मिली और जिसने बुरे काम करके अशुभकर्म किये थे; उनकी वजह से उसे अपने काम में नाकामयाबी मिली।

इस कर्मसिद्धान्त को खडित करने के लिये स्वामी जी ने यद्यपि कोई प्रबल युक्ति नहीं दी है; तो भी इस विषय का खण्डन जैसा उन्हों ने किया, उसे आप सत्यार्थप्रकाश के ४५७ वें पृष्ठ पर देखिये । वहां आप आस्तिक, नास्तिक संवाद के

रूप में लिखते हैं कि—"नास्तिक—जीव कर्मों के फल ऐसे ही भोग सकते हैं जैसे भांग पीने के मद को मनुष्य स्वयमेव भोगता है, इसमें ईश्वर का काम नहीं। (उत्तर) आस्तिक—जैसे बिना राजा के डाकू, लंपट, चोरादि मनुष्य स्वयं फांसी व कारागृह में नहीं जाते और न वे जाना चाहते हैं, किन्तु राज्य की न्यायव्यवस्थानुसार बलात्कार से पकड़ा कर राजा यथोचित राजदण्ड देता है। उसी प्रकार जीव का भी ईश्वर अपनी न्याय-व्यवस्था से स्वस्वकर्मानुसार यथा योग्य दण्ड देता है, क्योंकि कोई भी जीव अपने दुष्ट कर्मों का फल भोगना नहीं चाहता। इस लिये अवश्य परमात्मा न्यायाधीश होना चाहिये।"

न्याय प्रिय मित्रो ! आप यदि प्रश्न को विचार कर स्वामी जी का यह उत्तर पढ़ें तो आप को मालूम होगा कि प्रश्नकर्ता ने जो भाँग का नशा चढ़ने का उदाहरण देकर कर्मों में जीवों को फल देने की शक्ति सिद्ध की है, उसका स्वामी जी ने कुछ भी निराकरण नहीं किया है, किन्तु फिर भी हम उस विषय

का और खुलासा कर देने के अभिप्राय से स्वामी जी के अभिप्राय का भी उत्तर लिख देते हैं।

प्रथम तो "जीव कर्मों का फल नहीं भोगना चाहते हैं" स्वामी जी का यह हेतु भागासिद्ध है; क्योंकि जीव यद्यपि पाप कर्मों का फल नहीं भोगना चाहते हैं किन्तु अच्छे कर्मों के फल भोगने से कोई भी इनकार नहीं करता। स्वयं स्वामी जी भी पुण्य कर्मों का फल भोगना पसन्द करते ही हैं। तथा कर्म सिद्धांत के विषय में स्वामी जी की शङ्का दो प्रकार से ही समझी जा सकती है। एक तो यह कि- कर्मों का फल जीव स्वयं भोगना नहीं चाहता अत: न्यायी राजा के समान कर्मोंका फल देने वाला ईश्वर होना आवश्यक है। दूसरे ज्ञान-शून्य कर्म जड पदार्थ होने के कारण उचित फल देने में असमर्थ है, अतः कोई चेतन पदार्थ फलदाता अवश्य होना चाहिये। इन दो शङ्काओं के सिवा कर्मसिद्धान्त के विषय में अन्य कोई शंका स्वामीजी ने नहीं उठाई है। इनका समाधान इस प्रकार है। जीव यद्यपि स्वयं अपने दुष्कर्मों का फल नहीं भोगना चाहता है। किंतु उसके न चाहने से उसे उसके कर्मोंका फल मिलना रुक थोड़े ही सकता है, वह तो उसे अवश्य मिलेगा। दृष्टान्त के लिये यों समझ लीजिये कि एक मनुष्य गर्मी के दिनों में धूपमें खड़ा रह कर चने चबाता हुआ यों चाहे कि मुझे प्यास न लगे तो क्या उसके न चाहने से इस कामका फल (प्यासका लगना) उसको न मिलेगा? अवश्य मिलेगा। कोई मनुष्य भङ्ग पीकर यह चाहे कि इसका

नशा मुझे न चढ़ेगा ? अवश्य चढ़ेगा। इसी तरह जैसा कुछ कर्म यह जीव रैन्दा करेगा, उसका फल भोगना होगा, चाहे वह योग्य समझे या अयोग्य: कर्म को इस बातसे कुछ मतलब नहीं। वह तो समय आजाने पर भङ्ग की तरह अपना नशा चढ़ा कर उसकी बुद्धि सुधार विगाड कर ऐसा मौका उपस्थित कर देगा, जिसमे कि वह जीव स्वयं अच्छा बुरा फल भोग लेगा। यानी होनहार फलके अनुसार कर्मके नशे के निमित्त से उसकी बुद्धि ऐसी ही होजायगी कि वह ऐसा कोई कार्य कर बैठेगा जिससे कि अच्छा बुरा फल अपने आप उसके सामने आजायगा। "प्रभु जाहि दारुण दुख देहीं, ताको मति पहले हर लेहीं।" कवीश्वर का यह वाक्य कर्म सिद्धान्त की पुष्टि करता है, अन्तर केवल इतना है कि प्रभु शब्दका अर्थ 'कर्म' ही समझना चाहिये। इसलिये स्वामी जी की पहली संख्या तो यो हट जाती है।

दूसरी शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म यद्यपि जड़ हैं उन्हें उचित अनुचित कार्यों के अनुसार अच्छा-बुरा फल देनेका ज्ञान नहीं है, किन्तु प्रथम तो जड पदार्थो मे अनन्त शक्तियां हैं जिनका अनुभव आप बेतारका तार, बिजली, गैस आदि पदार्थ से कर सकते हैं। यहां यह शंका नहीं करना कि "जीव ही अपनी शक्ति द्वारा इन जड़ पदार्थों से तरह २ के अद्भुत काम लेता है। इसलिये जड़ पदार्थमें अनन्त शक्तियां नहीं हैं।" वास्तवमें अद्भुत काम करनेकी विचित्र मूल शक्तियां तो जड़ पदार्थों में ही हैं।

मनुष्य के निमित्तसे तो वे केवल दीख पड़ती हैं। जीव स्वयं अपनी उपादान शक्तिसे इन विचित्र कार्यों को नहीं कर सकता सर्दी पड़ना, गर्मीका होना, पानी बरसना आदि कार्य केवल जड़ पदार्थ स्वयं एक दूसरे के संयोगसे ठीक नियमानुसार करते देखे जाते हैं। अतः कर्म जड़ पदार्थ रूप भी हुए तो क्या हुआ, जीव को अच्छा बुरा फल नियमानुसार देने की शक्ति उनमें मानना या होना कोई आश्चर्य या असंभव बात नहीं है। दूसरे—केवल जड़ पदार्थ (कर्म) को इस कार्य के लिये माना जाय तो आश्चर्यजनक या असम्भव बात हो सकती है। जैनधर्म ने तो यह माना है कि जीव के संयोग से जड़ कर्मों के अन्दर ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि वे जीव को नियमानुसार फल दे देते हैं। ऐसा होना कोई असम्भव नहीं है, क्योंकि जो जड़ पदार्थ स्वतन्त्र भी विचित्र कार्य कर दिखलाते हैं तो जीव का संयोग पाकर वे ऐसा कार्य कर दिखलायें, इसमें क्या आश्चर्य है? देखिये! जो शराब जड़ पदार्थों के संयोग से नशा प्रगट नहीं कर सकती है, वही शराब जीव का संयोग पा कर पेट में पहुंच जाने पर ठीक नियमानुसार शराबी मनुष्य की शक्ति को तोल कर ठीक समय पर नशा चढ़ा देता है। बस! यही बात कर्मों की भी है, उनमें भी जीव के सम्बन्ध से उन्हें उचित फल देने की शक्ति पैदा हो जाती है, जिससे कि ठीक बराबर जैसा चाहिये वैसा फल उसे मिल जाता है। फल पाते समय जीव को यह नहीं बतलाया जाता कि यह फल तुम्हें अमुक काम

करने के बदले में दिया जाता है। इस से सिद्ध होता है कि फल देने वाला पदार्थ जड है, अन्यथा यदि कोई चेतन ईश्वर आदि होता तो उस समय यह अवश्य बतला देता कि तुम्हें यह दण्ड अमुक काम करने का दिया जाता है।

कर्मसिद्धान्त के विषय में यह शङ्का भी खड़ी नहीं हो सकती कि जड कर्मों से जीव के ज्ञान आदि गुण कैसे ढांक जा सकते हैं? क्योंकि हम को हजारों उदाहरण ऐसे मिल रहे हैं जो कि इस शङ्का को जड़मूल से उडा देते हैं। देखिये! शराब जड पदार्थ ही है किन्तु वह पेट में पहुचते ही बुद्धि पर पर्दा डाल कर पागल बना देती है, क्लोरोफार्म एक जड़ पदार्थ ही तो है, किन्तु केवल नाक से सूंघ लेने पर ही तमाम सुध-बुध को भगा देता है, इत्यादि। जब ऐसा है तो कर्म भी जड पदार्थ हो कर और जीव का सयोग पाकर उसके ज्ञान आदि गुणो को क्यों नहीं बिगाड सकते। इस लिये जीव को सुख-दुख देने की कर्मों मे योग्यता मौजूद है। तदनुसार ये जीव को सुखी-दुखी किया करते हैं। स्वामी जी के लिखे अनुसार परमेश्वर का इस विषय में कुछ हाथ नहीं है।

जैनधर्म के इस कर्मसिद्धान्त को सांख्यदर्शन ने बहुत भाग में स्वीकार किया है। उसके मानने में कुछ बातों के सिवाय एक ख़ास अन्तर यह है कि उसने कर्म का नाम प्रकृति या प्रधान रक्खा है। स्वामी जी ने जो सत्यार्थप्रकाश में

सांख्यदर्शन को ईश्वरवादी (ईश्वर को सृष्टिकर्ता, हर्ता, कर्मफल-दाता मानने वाला) प्रगट कर दिखाया है इसका कारण या तो उनकी मोटी भूल हो सकती है अथवा जान बूझ कर असत्य लिख अपनी बात को पुष्ट करना हो सकता है । अस्तु, आप लोग सांख्यदर्शन को स्वयं देख कर इस विषय पर निश्चय करें और शांति के साथ विचारें ।

इस विषय को समाप्त करता हुआ मैं आप से एक निवेदन करता हूं कि यह कर्मसिद्धान्त जैनधर्म में बड़े विस्तार के साथ बहुत अच्छे तौर से बतलाया गया है । जिसका दिग्दर्शन भी आपके सामने नहीं आ पाया है । आप एक बार उसे जैनग्रन्थों द्वारा देखने का कष्ट उठावें । मुझे पूरा विश्वास है कि आप उन्हें देख कर इस विषय में संतोष प्राप्त करेंगे ।

[८]

ईश्वर सर्वशक्तिमान भी नहीं ठहरता है ।

प्रियवर महाशयो । स्वामी जी ने ईश्वरको सर्वशक्तिमान बतलाया है; जिसका कि अर्थ यह है कि ईश्वर में सब कुछ करने की शक्ति मौजूद है । स्वामी जी के लिखे अनुसार आप लोग भी ऐसा ही मानते होंगे । किन्तु मित्रो ! युक्तिपूर्ण विचारों के सामने स्वामी जी का यह लिखना और आप लोगों का उसे मानना असत्य ठहरता है । आपके सामने यह एक नई बात है । इस लिये आप इस पर ध्यान पूर्वक विचार कीजिये—

क्या ईश्वर सब जीवों को दयालुता वश अपने सरीखा ईश्वर बना सकता है? अथवा इतना न करे तो, न सही, किन्तु उनको अजर, अमर भी कर सकता है क्या? राजा जैसे किसी बड़े भारी अपराधी को अपने राज्य से बाहर निकाल देता है— जैसे कि बहुत से भारतीय विद्वानों तक को अंग्रेज सरकार ने भारतवर्ष से निकाल दिया है, क्या इसी प्रकार ईश्वर भी अपनी आज्ञा से सर्वथा विरुद्ध चलने वाले नास्तिक लोगों को अपने राज्य से यानी सृष्टि से बाहर निकाल सकता है? क्या ईश्वर आकाश से फूल और पेड़ों से मनुष्य उत्पन्न कर सकता है? क्या वह कभी सारे संसार का निर्मूल नाश कर सकत है? और क्या वह ऐसा दूसरा जगत भी बना कर तयार कर सकता है? क्या वह अस्ति (हस्ती) से नास्ति (नेस्ती) और नास्ति से अस्ति कर सकता है?

इन सब प्रश्नों का उत्तर आप यही दे सकते हैं कि— **"नहीं ईश्वर ऐसा कदापि नहीं कर सकता, क्यों-कि ये बातें प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हैं,,** जब कि ऐसा है, ईश्वर प्राकृतिक नियमों से विपरीत तिल भर भी नहीं कर सकता; तब मित्रो! आपही बतलाइये कि वह फिर सर्वशक्तिमान कैसे कहा जा सकता है? ऐसी दशा में भी उसे सर्वशक्तिमान कहना **"मियां चियाँ नाम पहाड़ खाँ"**

की कहावत को चरितार्थ करना है। इस कारण तात्पर्य यह निकलता है कि ईश्वर अनन्त शक्ति वाला तो हो सकता है, जैसा कि जैनधर्म भी मानता है, किन्तु सर्वशक्तिमान किसी भी तरह नहीं हो सकता। इस लिये स्वामी जी ने जो ईश्वर को सर्वशक्तिमान लिखा है वह ग़लत है।

[६]

ईश्वरका स्वरूप दिग्दर्शन

मान्यवर सज्जनो! स्वामी जी ने जैनधर्म पर ऐसा एक विशेष आक्षेप किया था कि— "ईश्वरको सृष्टिकर्ता न मानना जैनियों को भारी मूर्खता है।" स्वामी जी के इस आक्षेपका युक्तिपूर्ण प्रतिवाद पीछे पर्याप्त तौर से होचुका है। अब हम आप के सामने ईश्वरका वास्तविक स्वरूप जो कि जैनधर्म ने प्रगट किया है और जिसमें कि कुछ बाधा भी नहीं आती रखते हैं।

मित्र महाशयो! इस संसार मे दो प्रकार के पदार्थ हैं— एक जड़, दूसरे चेतन (जीव)। ज्ञानदर्शन सुख आदि गुणधारी चेतन यानी जीव है और इन गुणों से शून्य जड पदार्थ है। जड़ पदार्थोंमें से पुद्गल पदार्थ में रूप, रस, गंध, स्पर्श ये चार गुण अन्य पदार्थों से विशेष पाये जाते हैं। अतः ससार मे हमे जो कुछ दीख पड़ता है वह सभी पुद्गल पदार्थ है। जीव यद्यपि

अमूर्तिक पदार्थ है, किन्तु अनादिकाल से वह पुद्गल के साथ मिला हुआ चला आरहा है। कोई समय ऐसा नहीं था जबकि यह जड़ पुद्गल से बिलकुल अलग रहा हो, क्योंकि संसारी दशा मे जीव बिना शरीर के रह नहीं सकता। शरीर पुद्गल यानी जड़ पदार्थ है यह हम मृतक शरीरसे प्रत्यक्ष जानते ही हैं। इस जेल सरीखे शरीर में जीवको क्यों रहना पडता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जीव कर्मबन्ध से बंधा हुआ है, जिसकी कि परतन्त्रता से उसे अनेक योनियों में अनेक प्रकारके शरीर धारण करने पड़ते हैं। कभी इन्द्रियजन्य सुख, कभी दुख, कभी स्वल्प-ज्ञान, कभी कुछ अधिकज्ञान, कभी रङ्क, कभी राजा, कभी मनुष्य कभी पशुपर्याय मिलती है, इत्यादि। सभी जीव यद्यपि अन्तरङ्ग मे शक्तियों की अपेक्षा समान है, उनके आत्मामें किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है। किन्तु बाहर कर्मों की विचित्रता से संसारी दशामें उनके गुणों में हीनता और अधिकता दीख पड़ती है। जैसे कि भिन्न २ प्रकार की मिलावट वाले सोने के टुकड़ों मे सोना।

चोर जिस प्रकार अन्य पुरुषके द्रव्यको अपना कर जेल में जाता है, व्यभिचारी मनुष्य परस्त्री के साथ बलात्कार करने से जेलकी हवा खाता है, उसी प्रकार यह संसारी जीव शरीर, धन, पुत्र, मित्र शत्रु इत्यादिक अन्य पदार्थों से जो कि इस जीव के वास्तवमे निजी पदार्थ नहीं है, राग (प्रेम) द्वेष (वैर)

करने के कारण कर्मबन्धन में स्वयं फंसता है। ज्ञान आदि जो उसके निजी गुण थे जीवको उन गुणोंको ही अपनाना था। किन्तु उसने ऐसा न करके दूसरे पदार्थों के साथ ममत्व किया इस अपराध में उसे फल भी यह मिला कि कर्मबन्धन से उसे छुटकारा न मिल सका। इस प्रकार यह संसारी जीव राग द्वेष आदि के कारण सदासे कर्माधीन रहता चला आया है।

स्वामीजी ने जैनधर्मके इस सिद्धांतको मानकर जीवको कर्म-बन्धनसे बधा हुआ माना है और वह भी यहाँ तक कि "प्रलयदशा मेभी जीवके साथ इस स्थूल शरीरके न रहनेपर एक सूक्ष्म शरीर और कर्म रहते हैं" ऐसा सत्यार्थप्रकाशमें स्पष्ट लिख दिया है। किन्तु इसके आगे चलकर वे उन कर्मोका अच्छा बुरा फल देना जो ईश्वर केजिम्मे लगाते हैं वह जैनसिद्धान्तके विरुद्ध है, जिसका प्रतिवाद होचुका है।

प्रतिक्षण अपनी २ काल अवधि (मियाद) पाकर जीवको अच्छा बुरा फल देकर पुराने कर्म आत्मा से अलग होते जाते हैं और प्रतिक्षण ही जीवके अच्छे बुरे कर्तव्यो केअनुसार नवीन नवीन कर्म आत्मा के साथ बन्धते भी जाते हैं। इस तरह कर्मो से बन्धने छूटने की परम्परा सर्वदा चलती रहती है। कोई कैदी जेल मेभी दूसरे मनुष्यों को मारने पीटने आदि अपराधों को करता है इस कारण जब तक उसके पहले अपराधों की (दंडकी) समाप्ति आती है तब तक नया अपराध कायम होनेसे उसकी जेल और बढ़ जाती है और

इस तरह उसके अपराधों की परम्परा चलते रहने से उसकी जेल सदाके लिये बनी रहती है।

कभी कोई अवसर पाकर जैसे वह कैदी मनुष्य अपनी भूल समझ जावे और जेलसे छुटकारा पानेके लिये नया अपराध करना छोड़दे जिससे कि उसकी जेल आगे तो बढ़ने न पावे और जो शेष बची है उसे भी अच्छे २ कार्य कर दिखाने आदि कारणों से पारितोषक रूप में अपने अधिकारियों से कम कराता जाय, इस तरह करते रहने से कोई दिन उस के लिये वह भी आजाता है जिस दिन उसे जेल से पूर्ण छुटकारा मिल जाता है। ठीक; इसी प्रकार जब यह जीव किसी सद्गुरू के उपदेश आदि कारणों को पाकर अपनी असलियत तथा अपने अपराध को अच्छी तरह समझ लेता है उसी दिन से वह अपने आत्मस्वरूप की ओर ऋजु होता है (झुकता है) तथा अन्य पदार्थों से रागद्वेष करना छोड़ता जाता है इस का फल यह होता है कि आगामी के लिये कर्मबन्धन बन्द हो जाता है और पुरातन कर्म अपना अपना समय पाकर अलग होते जाते हैं। इस के सिवाय जीव तपस्या आदि अन्य साधनों से यह कार्य भी करता है कि जो कर्म कुछ समय पीछे फल देकर अलग होगा वह निःसत्व होकर पहले ही अलग हो जाता है। जैसे कच्चे आम को पेड़ से तोड़ कर पाल में (भुस-आदिमे) रख कर शीघ्र पका लेते हैं।

जीव का यह प्रयत्न सतत चालू रहने पर कोई ऐसा भी समय आजाता है कि वह कर्म बन्धनसे सर्वथा छूट कर बिलकुल हलका होजाता है। इसी हलकेपन की वजह से जगत के सब से ऊंचे स्थान में जिस को कि जैनधर्म में सिद्धशिला से ऊपर बतलाया है जाकर जा ठहरता है। इस प्रकार कर्मबन्धन छूटने को ही मोक्ष कहते हैं। जिस प्रकार अनेक बार अग्नि पर चढ़ा चढ़ा कर सोने को सौटची निर्मल कर देने पर उस की असली चमक प्रगट होती है ठीक, इसी तरह राग द्वेष छोडने, क्षमा आदि से आत्मा का कर्ममल बिलकुल हटा देने पर आत्मा के अनन्तज्ञान अनन्तसुख अनन्तवीर्य आदि गुण प्रगट हो जाते हैं जिससे कि वह आत्मा पूर्णज्ञाता, पूर्णसुखी, कृतकृत्य, निर्विकार, पूर्ण सच्चिदानन्द, अनन्तशक्ति धारी, अविनाशी हो जाता है। जैसे सांचे के भीतर से चीज निकाल लेने पर सांचे का आकार रह जाता है उसी तरह यह कर्मजनित शरीर छोड देने पर मुक्त आत्मा शरीराकार मे रह जाता है। इस प्रकार समस्त कर्मों से छूटे हुए आत्मा को सिद्ध परमात्मा यानी सिद्ध नामक ईश्वर कहते है।

सिद्ध परमात्मा होने से पहले एक अरहंत दशा होती है जिसको कि जीवनमुक्त दशा भी कहते हैं। इस दशा के प्रगट होने का समय वह है जब कि तपस्या और ध्यान द्वारा चार घाती कर्म (आत्मा के गुणों के घातक) आत्मा से अलग होजाते हैं। उस समय अनन्तज्ञान (सर्वज्ञता), अनन्तदर्शन, अनन्त

सुख और अनन्त बल आत्मा में प्रगट होते हैं। राग द्वेष मद मात्सर्य काम क्रोध क्षुधा आदि दोष नष्ट हो कर वीतरागता प्राप्त होती है। इस दशा में यद्यपि सर्वज्ञता वीतरागता तथा पूर्ण सुख प्राप्त हो जाता है, किन्तु अभी चार कर्मों के कुछ अंश शेष रह जानेके कारण शरीर और संसारसे मुक्ति नहीं हो पाती। इस अर्हन्त दशा को पाकर परमात्मा इतर संसारी जीवोंको मोक्षमार्ग का उपदेश देकर उनका उद्धार करते हैं। तीर्थङ्कर (जैन अवतार) भी इसी अरहन्त दशा में संसार का उद्धारक मार्ग जीवों को दिखलाते हैं। उपदेश में झूठापन अनभिज्ञता के कारण (ज्ञान की कमी से) तथा राग द्वेष से आता है। वे दोनों बातें अरहन्तों में रहती नहीं हैं, इस लिये उनका उपदेश पूर्णतया सत्य रहता है। कुछ समय पीछे जब कि अरहन्त पर-मात्माके शेष चार कर्म भी नाश हो जाते हैं वे सिद्ध हो जाते हैं।

जैनधर्म ने इन्हीं जीवन्मुक्त और पूर्णमुक्त की दशा में पहुँचे हुए पवित्र आत्मा को ईश्वर माना है। यह निर्विकार निर्दोष इच्छाविहीन होते हैं। उनके सभी पदार्थोंमें समदर्शीपन रहता है। इस प्रकार जो कोई भी संसारी जीव उद्योग करके मोक्ष पा लेता है वही परमात्मा बन जाता है। परमात्मा बनने की शक्ति प्रत्येक जीव में विद्यमान है। परमात्म पद किसी एक विशेष आत्मा के लिये रजिस्टर्ड नहीं।

[१०]

प्रतिमा-पूजन पर विचार

विवेकशील सज्जनवर्ग ! स्वामी जी ने मूर्ति पूजा को सत्यार्थप्रकाश में अनेक स्थान पर पाखण्ड और व्यर्थ बतलाया है। उन्हों ने जैनधर्म के ऊपर उसके मूर्ति पूजक होने के कारण अनुचित तौर से भी आक्षेप किये हैं जो कि सभ्यता के ढङ्ग से भी बाहर की बात है। अस्तु। स्वामी जी ने इस विषयमें भी बहुत भारी भूल की है, क्योंकि मूर्ति पूजाका विषय ऐसा महत्वशाली है, कि जिसको बिना माने संसार का कार्य चलना मुश्किल ही नहीं किंतु असम्भव है। इसी विषय को अब आप के सामने रक्खा जाता है, आप इसे दिलचस्पी के साथ विचार पूर्वक पढ़ें।

स्वामी जी ने मूर्तिपूजा को व्यर्थ सिद्ध करने के लिये सत्यार्थ प्रकाश के ३२३ वें पृष्ठ पर यों लिखा है कि—

(प्रश्न) मूर्तिपूजा कहां से चली ?

(उत्तर) जैनियों से।

(प्रश्न) जैनियों ने कहाँ से चलाई ?

(उत्तर) अपनी मूर्खता से।

(प्रश्न) जैनी लोग कहते हैं कि शान्त ध्यानावस्थित बैठी हुई मूर्ति देखके अपने जीव का भी

शुभ परिणाम वैसा ही होता है।

उत्तर—जीव चेतन और मूर्ति जड़। क्या मूर्ति के सदृश जीव भी जड़ हो जायगा? यह मूर्ति पूजा पाखंडमत है, जैनियों ने चलाई है। इस-लिये इनका खंडन १२ वें समुल्लास में करेंगे।

ऐसाही बारहवें समुल्लास के ४७३ वें पृष्ठ पर लिखाहै कि "जो पाषाण-मूर्तियों के देखने से शुभ परिणाम मानते हो तो उस के जड़त्वादि गुण भी तुम्हारे में आजायेंगे, जब जड़बुद्धि होगे तब नष्ट होजा-ओगे। दूसरे जो उत्तम विद्वान हैं, उन के सङ्ग सेवा से छूटने से मूढ़ता भी अधिक होगी।"

मूर्तिपूजा प्रचलित करके जैनियों ने मूर्खता की है? या मूर्तिपूजाका निषेध करके स्वामीजी ने भूल की है? यह विषय आपके सन्मुख उपस्थित करते हैं, उस पर खूब विचार कीजिए।

प्रिय मित्रवर्ग! हम अपने नेत्रों द्वारा जड पदार्थों के सम्बन्ध से जीवके ऊपर होने वाले असरको प्रतिदिन देखते रहते हैं और स्वयं अनुभव भी करते रहते हैं। देखिये—हम लोग सवेरे से उठकर शाम तक जो कुछ भी प्रतिदिन अटूट परिश्रम करते हैं— नौकरी, व्यापार, शिल्प, कारीगरी मजदूरी

आदि कार्य करते हैं, पैदल, रेल, बैलगाड़ी, घोड़ा-गाड़ी, मोटर जहाज, वायुयान आदि द्वारा अपने प्राणों को जोखिम में डाल कर जमीन- जल और आकाश का मार्ग नापने में लग जाते हैं, यह सब किस लिये ? उत्तर इसका सिर्फ यही है कि चार पैसे पैदा करने के लिये; इसके बाद जब कोई यह प्रश्न करे कि चार पैसे क्यों पैदा करते हो ? उस समय हमारे मुखसे यही उत्तर निकलेगा कि भाई उन चार पैसों से ही हम अपना और अपने कुटुम्बका जीवन कायम रख सकते हैं। इसलिये अपने जीवनकी रक्षाके लिये उन चार पैसों को जैसे-तैसे पैदा करना हमको आवश्यक दीखता है। इससे मतलब यह निकलता है कि जो पदार्थ जड समझे जाते हैं उन्हीं अन्न, रुपया, पैसा, वस्त्र आदि जड पदार्थों से हमारा चेतन जीव कायम रह सकता है। जीव यदि अभिमान में आकर क्षणभरके लिये भी सर्वथा उनका सहारा छोड दे तो फल यह निकले कि उसकी सत्ता (हस्ती) इस लोकसे मिट जाये। जाने दीजिये इस दृष्टान्त को। दूसरा उदाहरण लीजिये— धनवान मनुष्य शहर के बीच ऊंचे पक्के सुरक्षित मकान में भी रहते हुये प्रायः चिन्तित और भयाकुल रहते हैं।

फकीर लोग चौडे मैदान में फूंसके झोंपडे मे पडे हुये भी बेफिक्र होकर गहरी नींद लेते हैं। ऐसा उल्टी बात क्यो दीख पडती है ? उत्तर यही है कि धनवान को अपने धनकी रक्षा करने की चिन्ता और चोरी डकैती आदि से उसके छिन जानेका

भय रहता है तथा निर्धन पुरुष अपने पासमें धन न रहने के कारण इस चिन्ता और भयसे बचे रहते हैं । अस्त्र-शस्त्रधारी शत्रु के आक्रमण से निःशङ्क और शस्त्रहीन पुरुष शत्रु से क्यों शङ्कित रहता है ? केवल इसलिये कि शस्त्रधारी मनुष्य शस्त्रों के सहारे शत्रु के आक्रमण को रोकने का बल रखता है और शस्त्र-हीन अपने पास शस्त्र न होने के कारण शत्रु के आक्रमण से अपने प्राणों को सङ्कट मे समझता है । इन तीन उदाहरणों से हम इस नतीजे पर जा पहुचते है कि जड पदार्थ चेतन जीव पर बहुत भारी असर डालता है । बिजली, भापं, गैस आदि पदार्थों की ओर देखने से तो जड पदार्थके द्वारा जीव पर होने वाले असरके विषय में सन्देह कपूर के समान बिलकुल उड़ जाता है । इस कारण मूर्तिपूजा के विषय में स्वामी जीका लिखना आठ आने भर तो यहां स्वयं खण्डित होजाता है, क्योंकि ऊपर के उदाहरणों से हम यह अभिप्राय निकाल चुके है कि जड़ पदार्थ भी चेतन जीव पर बड़ा प्रभाव डालते हैं ।

अब मूर्ति के विषय में खोज कीजिए— मूर्ति शब्द के अभिप्राय को कहने वाले प्रतिमा, चित्र, तस्वीर, शकल सूरत, फोटो आदि अनेक शब्द है । हम जबकि अपने हृदयका बल विचारते है तो हमें यही पता लगता है कि मूर्ति हमारे हृदय पर बहुत भारी प्रकाश डालती है । देखिये ! जब हमारे सामने जब

मित्रकी मूर्ति (चाहे वह पत्थर की हो, या कागज पर फोटो हो) आती है, तब हृदय मे प्रेम-हर्ष उमड आता है और जब शत्रु की फोटो दीख पडती है तो क्रोध-भाव पैदा होजाता है। तस्वीरें सभी यद्यपि साधारण तौर से बराबर हैं, किन्तु सुन्दर विलासिनी वेश्या का तसवीर हृदय पर खराब रागभाव पैदा कर देती है और भीम, महाराणा प्रतापसिंह आदि का चित्र देख कर वीरता का भाव हृदय मे तुरन्त उत्पन्न हो जाता है, जिस समय आंखो के सामने किसी लोकोपकारी— महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि सरीखे—पुरुष की प्रतिमाएं आती है तब हृदय भक्तिरस में डूब जाता है। दीन-दरिद्र की मूर्ति देख कर दिल पर दयाभाव का अङ्कुर जमता है और संसारत्यागी किसी साधु की फोटो देखकर वैराग्यभाव उत्पन्न हो आता है। ऐसे भाव क्यों उत्पन्न होते हैं? केवल इसलिये कि आँखों के सामने आई हुई मूर्ति ने हमारे हृदय पर अपना प्रभाव डाला। इसी को दूसरी तरह यों कह लीजिये कि मूर्ति के सम्बन्ध से हमारा हृदय उस तरह पलट गया। मूर्ति का प्रभाव यहीं तक समाप्त नहीं होजाता है, किन्तु इस के आगे बढ़ कर देखिये, ऋतुकाल के पीछे स्नान की हुई स्त्री के सामने जिस पुरुषकी मूर्ति आती है, गर्भ रहजाने पर गर्भवाले बालक की सूरत भी वैसी ही हो जाती है। गर्भिणी स्त्री को यदि अपने पति का तथा बलवान, सदाचारी यशस्वी

पुरुष का चित्र देखने में आता रहेगा, तो पुत्र अपने पिता की सूरत का तथा बलवान, सदाचारी उत्पन्न होगा। यदि गर्भिणी माता बदसूरत, कलङ्कित पुरुष के चित्र का निरीक्षण करती रहे तो स्वयं तथा अपने पति के सुन्दराकार और सदाचारी रहने पर भी बदसूरत, असदाचारी पुत्र का प्रसव करेगी। यह बात दृष्टान्तों से, अनुभव से और साइन्स से सिद्ध है। वीर केसरी नैपोलियन बोनापार्टकी माताने नैपोलियन सरीखे वीर को; वीर पुरुषों के चित्र देख देख कर ही उत्पन्न किया था। ऐसा क्यों हुआ या हो सकता है? इस प्रश्नका एक ही उत्तर है कि मूर्ति अपना प्रभाव गर्भिणी माताके गर्भपर डालती है और वह भी इतना भारी कि उसके उदरवर्ती गर्भ की सूरत अपना सरीखा कर देती है। इस बात को आप अपने सच्चे दिल से अवश्य मानेंगे, क्योंकि प्रमाणसिद्ध बात को आप सचाई के काँटे पर रख कर उसकी यथार्थता को कहाँ छिपा सकते हैं। बस; मूर्तिपूजा का सिद्धान्त यहीं पर बडी आसानी के साथ सिद्ध हो जाता है और स्वामी जी का पक्ष गिरकर चकनाचूर हो जाता है, किन्तु फिर भी थोड़ा और चलिये—

मूर्ति दो प्रकार की होती है, एक तदाकार और दूसरी अतदाकार। जो मूर्ति असली पदार्थ के आकार की हो उसे **तदाकार मूर्ति** कहते हैं, जैसे मनुष्य, हाथी घोड़े आदि के खिलोने, तसवीरें, प्रतिमा आदि। और जो असली पदार्थ के

आकार मे न होते हुए भी उस पदार्थ के बोध कराने का चिह्न हो, उसे **अतदाकारमूर्ति** कहते है, जैसे शतरञ्ज की गोटें जो कि राजा, मन्त्री, हाथी आदि समझी जाती हैं। आपके सामने तदाकार मूर्ति का जीव के ऊपर प्रभाव पड़ने के अनेक उदाहरण ऊपर दिये जा चुके है। अब कुछ अतदाकार मूर्ति के प्रभाव की कथा भी देख लीजिये—प्रत्येक लिपियों के जो अक्षर हैं, वे क्या चीज है? इस प्रश्न का उत्तर आप यही देंगे, कि अपना अभिप्राय प्रगट करने के चिन्ह हैं। हम जो अपने मुख से "क, ख" आदि उच्चारण करते हैं वह उच्चारण तो किसी फोटो में आ नहीं सकता, इस लिये उस उच्चारण की तदाकार मूर्ति बनाना तो असम्भव है। इस निमित्त से विवश हो पुरुषों को "क, ख, A, B" आदि की शक्लों मे चिन्ह मानने पड़े हैं। अब इन चिह्न रूप अतदाकार मूर्तियों का भी चेतन जीव पर पड़ता हुआ अचिन्त्य प्रभाव देखिये! प्रथम तो इन्हीं हिन्दी, अंग्रेजी आदि लिपियों द्वारा सारे संसार का कारोबार चल रहा है। अतः विशेष समझने के लिये लिखना व्यर्थ है किन्तु फिर भी २-१ और उदाहरण भी लीजिये—जिस समय किसी व्यापारी के पास किसी निजी दिशावर की दूकान पर दशलाख रुपये के लाभ होने का तार आता है, उस समय वह उसी अतदाकार मूर्ति यानी तार को देख कर, अनेक तरह हर्ष मनाता है और जब

कि उसके पुत्रके स्वर्गवास होने का तार आता है, तो उसी तार को देखकर उसके घरमे रोना फैल जाता है। स्कूलों में विद्यार्थी जागरफी (भूगोल) पढ़ते हैं, किन्तु उन्हें उसको ठीक तरह समझनेके लिये नक्शेकी जरूरत रहती ही है। वह नकशा असलियत में चीज क्या है? नगर, सड़क, रेलवे लाइन, नदी पहाड, समुद्र टापू, खाडी, झील आदि के समझने की अतदाकार मूर्ति यानी चिन्होंका समूह मात्र ही होता है। रेलवे स्टेशन के पास खड़े हुये सिगनल क्या पदार्थ है? अतदाकार मूर्ति ही तो है, किन्तु वही रेलगाडी के आने जाने रोकने का बडा भारी काम करते हैं जहाज, रेल युद्ध आदिके झन्डे यद्यपि केवल कपड़े के टुकड़े है किन्तु उन्हींसे जहाज, सेना, रेल आदिका संचालन होता है। घडी तथा उसमें लगी हुई छोटी बडी सूईयां असलियत में लोहे या टीनके टुकड़े ही तो हैं, किन्तु समय (टाइम) समझने के लिये बहुत अच्छा साधन है। सत्यार्थप्रकाश क्या चीज है? यह केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों की अतदाकार सूरत ही तो है। वेदको देखा जाय तो वह केवल कागज दीख पडता है, किन्तु फिर भी पुरातन ऋषियों के विचारों को प्रगट करने वाली अतदाकार मूर्ति है। इन अतदाकार मूर्तियों से जीव पर क्या असर पडता है, यह बात तो स्वामी जी से भी नहीं छिपी होगी। फिर भी उन्होंने मूर्तिपूजाका क्यों निषेध किया, इसका आश्चर्य है। क्या स्वामी जो वेदकी पूजा (इज्जत) नहीं करते थे? क्या

वेदोंका आदर न करने वाले पुरुष पर उन्हें क्रोध नहीं आता था ? अवश्य आता था, क्योंकि निर्दोष जैनधर्म पर अपशब्दोंकी बौछार करने का कारण तो यही है। फिर जड़ पुस्तकरूप वेदोंका आदर सत्कार करने वाले स्वामी जी तथा आपलोग (आर्यसमाजी) मूर्तिपूजामे क्योंकर मनाही (निषेध) कर सकते हैं। इस प्रकार मूर्तिपूजाका सिद्धान्त स्वामी जो ही स्वयं पुष्ट करते हैं। फिर यह मूर्तिपूजा जैनियों से प्रारम्भ हुई तब वह तो जैनधर्म के महत्व को ही प्रगट करती है, स्वामी जो इस बात को फिर भी मूर्खता कहते हैं। विचारिये कि मूर्खता किसके पल्ले मे है।

मूर्तिपूजा की बज्रभित्ति को हिलाने के लिये कोई कोई महाशय कुतर्क उठाते है कि जब पत्थर पत्थर सब एकसे है फिर उन्हीं पत्थरों की मूर्ति क्योंकर पूज्य है ? दूसरे—जिस मूर्तिको कारीगर अविनय के साथ टांकी से छोलछाल कर बनाते हैं, उसमे फिर पूज्यता कैसे आ सकती है ? इसका उत्तर इस प्रकार है कि पत्थर पत्थर यद्यपि एकसे हैं, किन्तु उनमे पत्थर की मूर्ति ही पूज्य हो सकती है; जैसे कि कागज के टुकडे तो यद्यपि सभी कागज मात्र होते है, किन्तु हुन्डी नोट आदिका कागज हजारों, लाखों रुपये क्यों देता है ? वेदको पुस्तक के कागज क्यों कीमती और पूज्य समझे जाते है ? अन्य कागज के टुकडे उतने कीमती क्यों नहीं है, उन्हें क्यो रद्दी मे डाल देते है ? इसके उत्तर में आप यही बोल सकते है कि हुन्डी पर धनिक सेठ की, नोट पर सरकारकी और वेद पर ऋषियों के अभिप्रायों की छाप है। जबकि

ऐसा है तब पत्थर की मूर्ति देवकी आपसे पूज्य क्यों नहीं हो सकती ? अवश्य हो सकती है। वैसे तो किसी कोरे कागज की कुछ कीमत और इज्जत नहीं, किन्तु यदि उस पर स्वामी दयानन्द जी का फोटो खेंच दिया जाय तो क्या फिर आर्यसमाजी उस कागजकी इज्जत नहीं करेंगे और क्या उसके अनादरमे बुरा न मानेगे ? अवश्य मानेंगे। अब कहिये वह आपकी मूर्तिपूजा है, या नहीं ? पहली कुतर्क तो यों उड जाती है।

दूसरी तर्क भी निर्मूल है। क्योंकि जो स्वामी दयानन्द जी या महात्मा गांधी जी बचपन में साधारण बालकों के समान अपने गुरू से शिक्षा पाते थे, वे क्या फिर भी किसीके लिये पूज्य नहीं हुए ? जिस लडके को मार पीट कर पढ़ाया जाय और वह पढ़ लिखकर डिप्टी कलक्टर, कमिश्नर या डिप्टी कमिश्नर हो जाय, तो क्या फिर भी वह लोगों के लिये वैसा ही मारपीट खानेका पात्र रहता है ? क्या फिर मनुष्य उसका आदर नहीं करते है ? उत्तरमें 'नहीं' कहना कठिन है। इसलिये कि उस का मान बालक सरीखा न रहकर प्रतिष्ठित पुरुष सरीखा ही होता है। इसी तरह यदि कोई पत्थर काट छांटकर किसी देव की मूर्ति में बना लिया जाय तो वह पूज्य क्यो नहीं हो सकता। अवश्य हो सकता है। इस प्रकार यह दूसरी तर्क भी नहीं ठहर सकती।

मूर्तिपूजा के विषय में अन्तिम एक प्रश्न आप लोग यह

उठा सकते हैं कि उपदेश बोलने चालने वाले चेतन पदार्थ मे मिल सकता है। जड पत्थरकी मूर्ति हमको क्या उपदेश दे सकती है? इस पर उत्तर यह है कि नहीं, मूर्ति भी अपनी चेष्टा के द्वारा पर्याप्त उपदेश देती है। देखिये! हम यदि दो वर्षके बालक को हंसमुख का शक्लमे दो थप्पड लगाते है, तब भी वह रोता नहीं है। किन्तु जिस समय हम अपना चेहरा क्रोधित बनाकर उसे कुछ हाथ भी नहीं लगाते, तब भी वह रोने लगता है। यह क्या बात है? यही कि दो वर्ष के अबोध बालक ने हमारी शक्ल से मनोभाव पहचाना। कांग्रसमे नेता लोग जो कुछ भाषण देते हैं वह तो यद्यपि छपकर दो पैसे के अखबार से मालूम हो सकता है। फिर भी लोग कांग्रेस मे सैकडों रुपये खर्च करके क्यों जाते है? केवल इसलिये कि जो शिक्षा उनकी मूर्ति देख कर मिल सकती है वह अखबार मे नहीं। लाहौर मे लार्ड लारेंस की खडी हुई पत्थरकी मूर्ति भारतीय लोगों को कह रही है कि तुम तलवार का राज्य चाहते हो या कलम का? कोई मनुष्य यदि चुपचाप रहकर भी अपना भूखा पेट दिखला कर दीन चेष्टा बनावे तो लोग समझ लेते हैं कि यह खाना मांग रहा है, ऐसा क्यों? इसी लिये कि उसकी चेष्टा यह बात कहती है। बस यही बात सरल, मनोहर सिद्धान्त दिखादानपट पाषाणमूर्ति के लिये भी लागू है। कोई मूर्ति (काली देवी की) लाल जीभ निकाले हाथ मे नङ्गी तलवार लिये आंखें चढ़ाये

खड़ी है। तो वह यह कह रही है, कि मुझे शत्रुओं को मारकर उनका रक्त पीना है। यदि जैनियों के अरहन्त देव की अल्प वयस्क निर्विकार बालक के समान नग्नमूर्ति को देखा जाय तो उससे बिना बोले भी यही उपदेश मिलता है, कि संसार में कोई भी पदार्थ आत्मा का नहीं है, जीव पैदा होते समय जैसे अपने साथ कुछ नहीं लाता है उसी प्रकार वह मरते समय भी अपने साथ कुछ नहीं ले जायगा; आत्मा के साथ में ज्ञान आदि गुण ही जावेंगे., इस लिये सभी संसारी चीज़ों को पराई जानकर छोड़ दो और अपने को शांति का घर निर्ग्रन्थ (सब धन, वस्त्र आदि से रहित) बनाओ। जब तक तुम्हारे पास एक लंगोटी भी रहेगी तब तक भी तुम अपने ऐबों को ऊपर से छिपाने की कोशिश करोगे और उस लंगोटी में प्रीति रखकर संसार की चीज़ों की ओर झुकोगे। अपनी निर्विकार चेष्टा को सब वस्त्र छोड़ कर दिखलाओगे जिससे कि तुम्हारी इन्द्रियों पर विजय पा लेने की लोगों को भी परीक्षा हो। इन संसारी चीज़ों में प्रेम और वैर मानने से ही तुमको दुःख और बनावटी सुख हो रहा है अतः इन सब पदार्थों मे रागद्वेष छोड़ कर एकान्त में अपनी आत्मा का ध्यान करके अपने को शुद्ध बनाओ, इत्यादि। इसलिये सिद्ध होता है, कि मूर्ति भी अपनी चेष्टा से उपदेश देती है और मनुष्य उसके सहारे से अपने को सुधार सकता है।

अब स्वामी जी का जैनियों की मूर्तिपूजा पर आखिरी

प्रश्न यह है, कि निर्ग्रन्थ नग्न अरहन्तमूर्तिको लाखो रुपये की लागत के सुन्दर विशाल मन्दिरों में रख कर जैन लोग उससे किस प्रकार वैराग्य-भाव की शिक्षा ले सकते है ? इसका उत्तर यह है, कि हम संसारी लोगो का मन बहुत कमजोर है, वह एक दम उतने बड़े वैराग्य तक नहीं पहुंच सकता, इस कारण मूर्ति के दर्शन करने तक पहुँचाने के लिये मन्दिर और उसकी सजावट कारण है, जैसे कि कुनैन खाने के लिये बतासा। हमारा हृदय चौडे मैदान मे मूर्ति रख कर इतना अधिक उस ओर नहीं लग सकता जितना कि मन्दिर मे लग सकता है क्योंकि हमारा मन प्रथम ही कुछ रागभाव अवश्य चाहता है। अतः जैनियों की अपनी अरहन्तमूर्ति के लिये सुन्दर मन्दिरों की आवश्यकता है। इस विषय में यह सन्देह न कीजये कि जैनी लोग मन्दिर की सजावट देखने में ही फंस कर मूर्ति से कुछ लाभ नहीं उठा पाते होंगे, क्योंकि प्रत्येक मौके पर लोगों की निगाह मुख्य पदार्थ पर ही रहती है, जैसे कि व्याख्यान के लिये भवन (लेक्चरहाल) की यद्यपि बडी सजावट की जाती है, किन्तु इस लिये नहीं कि लोग इस सजे हुए मण्डप को ही देखें और न वहां पर आये हुए हजारों लोग ऐसा करते ही है। वे तो केवल व्याख्यानदाता (लैक्चरार) को देखते हैं और उसके व्याख्यान को हृदय में उतारते हैं। यदि व्याख्याता के लिये सुन्दर कमरा न हो, तो लोगों का मन उतना नहीं लगता

है और न अधिक एकत्र ही होते हैं। इसी प्रकार संसारी जीव जैन लोग मन्दिर में आकर श्री अरहन्तमूर्ति के दर्शन करने को उसके शांत वीतराग आकार से उत्तम शिक्षा लेने के लिये ही आते हैं और ऐसा ही करते हैं। वहाँ पहुच कर केवल मन्दिर की सजावट देखना उनका प्रयोजन नहीं ठहरता।

ध्यान रखना चाहिये कि जैन लोग पाषाणमूर्ति की पूजा नहीं करते हैं, किन्तु उस मूर्ति वाले अरहन्त की पूजा करते हैं। अरहन्त के असली स्वरूप तक पहुचने के लिये मूर्ति द्वारा अपने मन को उधर झुकाते हैं। आप लोग जो ईश्वर के गुणगान करते हुए सन्ध्यावन्दन आदि करते हैं—वह क्या है ? यह भी ईश्वर तक पहुचने का एक साधन है, किन्तु इतना कमजोर जिसके सहारे से गृहस्थ लोग असली लाभ नहीं उठा सकते। अर्थात हम तुम सरीखे कुछ भी विचार करें, पहले उसका कुछ न कुछ खाका मन में जरूर खींच लेते हैं। निराकार ईश्वर का ध्यान भी तभी हो सकता है, जब कि कम से कम हृदय पर उस का कुछ न कुछ आकार खिंच जाय। "ईश्वर के सर्वव्यापक होने से उस की मूर्ति बनाना अयोग्य है।" स्वामी जी का यह अभिप्राय निर्मूल है; क्योंकि ईश्वर के सर्वव्यापक होने का कोई भी प्रमाण नहीं है। पीछे का प्रकरण देखिये।

गुरुकुल कांगडी के स्नातक तथा आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान उपदेशक पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार ने अभी कुछ मास

पहले हैदराबाद (निजाम) स्टेट मे 'मूर्ति पूजा' विषय पर सनातन धर्मी विद्वान के साथ शास्त्रार्थ किया था। उस समय अपना पक्ष पुष्ट करने के लिये सनातन धर्मी विद्वान ने प० बुद्धदेव जी में कहा कि आप यदि मूर्तिपूजा को व्यर्थ समझते हैं तो जरा स्वामी दयानन्द जी के चित्र पर एक जूता ही मार दीजिये। प० बुद्धदेव जी के इस कृत्य पर आर्यसमाज ने बहुत विरोध प्रगट किया कागज के बने हुये चित्र पर जूता मारने से स्वा० दयानन्द जी का असह्य अपमान अनुभव किया गया।

आर्यसमाज की मनोभावना से उसके मूर्तिपूजा के विरोध का अच्छा खोखलापन प्रगट होजाता है। जड़-चित्र मूर्ति पर जूता मारनेसे आर्यसमाज स्वामीजी का अपमान होना मानता है।

तथा बम्बई से ४० मील दूर स्थापित योगाश्रम के प्रमुख सन्यासी स्वा० कृष्णानन्दजी अपना पालतू शेर लेकर अभी (ता० १६-७-३६ को) कांगड़ा के ज्वाला जी के मन्दिर में गये थे। वहां पत्थर की बनी हुई शेरकी मूर्ति देखी। और उसे अपना प्रतिद्वंदी समझ कर स्वामी जी के शेरने आक्रमण करके पत्थर के सिंहको गिरा दिया। इस सत्य घटना से आर्यसमाजी भाई विचार कर सकते हैं कि इसी प्रकार भक्त लोग भी अपने आराध्य देवकी मूर्तिको पत्थर न समझ कर उस मूर्तिके द्वारा अपने आराध्य देवका ही अनुभव करते है।

सत्यार्थप्रकाश का ११ वां समुल्लास पढ़ने से मालूम होता है, कि स्वामी जी ने मूर्तिपूजा के सहारे से दो अयोग्य

बाते देख कर मूर्तिपूजा को ठीक नहीं समझा। एक तो मूर्ति पूजक पण्डे पुजारियों के अत्याचार होना, दूसरे विधर्मियों से मूर्ति का अविनय होना। हम इन दोनों बातों का उत्तर यही दे सकते हैं कि मूर्तिपूजा का सहारा लेकर जैन लोग कहीं भी स्वार्थ नहीं गांठते हैं और न उनके यहां पुजारियो के अन्य मतों के समान अत्याचार ही होते हैं। यहाँ तो प्राय सर्वसाधारण जैन लोग स्वयं ही पुजारी होते हैं, खास चुने हुए मनुष्य ही नहीं। दूसरी बात का उत्तर यह है, कि यद्यपि मुसलमानो अथवा अन्य शत्रुओं द्वारा मूर्तियों के अपमानित और खण्डित होने का भय रहता है, किन्तु इतने भय के निमित्त से मूर्तिपूजा क्यों छोड़ दी जावे? हम उन मूर्तियों की रक्षा के लिये अपने मे आवश्यक बल क्यों न लावें; क्या स्त्रियो की गुण्डों द्वारा वेइज्जती होने के भय मे हमारा यह फर्ज है कि हम अपना विवाह ही न करें? या कन्याओं का प्राणान्त कर दें? कभी नहीं। ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो कि जूं पड जाने के भय से कपड़ों का पहनना और अजीर्ण हो जाने के डर से भोजन करना छोड़ दे। अतः स्वामी जी के दोनों विचार भी जैनियों की मर्तिपूजा के सिद्धान्त को नहीं हिला सकते। अब आपको मालूम हो गया होगा कि जैनियों की मूर्तिपूजा केवल दिखावटी पाखण्ड नहीं है, जिसके कि भीतर पोल और अत्याचार छिपे हुए हों, बल्कि उनका मूर्ति पूजन-विषयक-सिद्धान्त बडा मजबूत अटल और योग्य

है। इस विषय में विशेष लिखना आप लोगों के लिये व्यर्थ समझता हूँ। अब आप स्वयं इसका फैसला करें, कि इस मूर्तिपूजा के विषय मे जैनसिद्धान्त सच्चा है या स्वामी जी का अकारण लिखना?

अब इस विषय की एक मनोहर कविता लिखकर इस विषय को समाप्त करते हैं—

जहां के काम बतलाने का सामां एक मूरत है।
गरज़ मतलबबरारी की नहीं कोई और सूरत है॥१॥
शकल सूरत शबीह तसवीर फोटो अक्स कुछ कहलो।
यह सारे नाम हैं उसके कि जिसका नाम मूरत है॥२॥
किताबो मे यही मूरत अगर हरफों की सूरत है।
तो उक्लेदसमें यह लाइनकी और नुक्तेकी मूरत है॥३॥
कहीं 'ए, बी' कहीं 'अ आ' कहीं पर 'अलिफ, बे' सारे।
यह समझाने के ज़रिये हैं यह बतलाने की सूरत है॥४॥
वेद इंजील और कुरआन गो कागज के टुकडे हैं।
मगर एक धर्म का रस्ता बताने की तो सूरत है॥५॥
ज़रा चलकर मदर्से में हिन्द का देखलो नकशा।
कहीं शहरो का नुक्ता है कहीं दरिया की सूरत है॥६॥
नजर जिसदम पडे साधू सती गणिका के फोटो पर।
असर दिलपर वही होता है जैसी जिस की मूरत है॥७॥
जैनसाइन्स में स्थापना निक्षेप कहते हैं।

इसी बुनियाद पर जिन मन्दिरोंमें 'जिन' की मूरत है ॥८॥
देख लीजे गौर करके यह मूरत शांत मूरत है।
यह इक वैरागता सर्वगता शांति की मूरत है ॥९॥
रहनुमा जगहितैषी की हमें ताज़ीम लाज़िम है।
अदब ताज़ीम करने की यही तो एक सूरत है ॥१०॥
खिंचे नहीं दायरा हरगिज बिना नुक्ते की सूरत के।
ध्यान के दायरे के वास्ते भगवत की मूरत है ॥११॥
शहन्शा जार्ज पंचम हिन्द में तशरीफ जब लाये।
झुका दिया सर जहां मलका महाराणी की मूरत है ॥१२॥
अदब से जाके बोसा देते हैं मक्के मदीने में।
वहां असवद की मूरत है यहां भगवत की मूरत है ॥१३॥
आर्यों मन्दिरों में भी शबी है दयानन्द स्वामी की।
लगी है सरमें ऊपर यह अदब करने की सूरत है ॥१४॥
सलामी फौज देती है झुका सर बोसा देते हैं।
जहां पर तख्तशाही या ताजशाही की मूरत है ॥१५॥
लीडरों के शहनशाहो के राजों के गवर्नर के।
हजारों बुत बने हैं दर असल मिट्टी की मूरत है ॥१६॥
अदब करते हैं सब इन का कोई तौहीन कर देखे।
सजा पाये अदालत से गो बुत मिट्टी की मूरत है ॥१७॥
जुदागाना असर दिलपर हर इक मूरत का होता है।
भला फिर किस तरह कहते हो यह नाकाम मूरत है ॥१८
करे सिजदा अगर पत्थर समझ कर तब तो काफिर है।

कुफर क्यों आवगा समझें अगर रहबर की मूरत है ॥१६॥
इसे मानो न मानो यह तो साहिब आप की मरज़ी।
'न्यामत' कोई बतलादे कि क्यों नाकाम मूरत है ॥२०॥
—न्यामतसिंह जैन।

[११]

क्या जैनधर्म बौद्धधर्मकी शाखा है ?

सत्य-प्रियमित्रो ! जैनधर्म के विषय मे स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश मे अन्य भूलों के सिवाय अपनी एक यह बहुत मोटी भूल लिख मारी है — वे सत्यार्थप्रकाश के बारहवें समुल्लास के ४४१ वें पृष्ठ पर लिखते है कि बौद्ध कहने से हमारा आशय उस मतसे है, जो महावीर के गणधर गौतम स्वामीके समय सेशंकर स्वामीके समय तक वेद-विरुद्ध भारतवर्ष में फैला रहा और जिस की अशोक और सम्प्रति महाराज ने माना, उस से जैन बाहर किसी तरह नहीं निकल सकते। 'जिन' जिस से 'जैन' निकला और 'बुद्ध' जिससे 'बौद्ध' निकला, दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। कोष में दोनों का अर्थ एक ही लिखा है और गौतम को दोनों मानते हैं"। स्वामी जी के इस लेख से पता

चलता है कि स्वामी जी के देखने में जैनग्रन्थों के समान अजैन दार्शनिकग्रन्थ भी नहीं आये। अन्यथा उन्हें अपनी ऐसी मोटी भूल प्रगट करने का अवसर नहीं मिलता। स्वामी जी की इस भूल में केवल अमरकोष के 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः' इत्यादि तीन श्लोकों ने सहायता पहुंचा कर स्वामी जी को बहुत धोखा दिया। अस्तु, जैनधर्म और बौद्धधर्म सर्वथा भिन्न २ हैं और जैन धर्म बौद्धधर्म से बहुत प्राचीन धर्म है, इस बात को हम कई प्रकार से आप को बतलाते हैं, आप उस पर स्वयं ही निर्णय करें—

प्यारे बन्धुओ! प्रथम तो जैन धर्म के सिद्धान्त बौद्धधर्म के सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न हैं। जैनधर्म के पूज्य देव गुरु और धार्मिक-नियम, तत्व आदि बौद्धधर्म के देव आदि से किसी भी प्रकार नहीं मिलते हैं। जैनधर्म के पूज्य देव अर्हन्त की मूर्ति नग्न वीतराग होती है और बौद्धधर्म के संस्थापक बुद्ध यज्ञोपवीत और वस्त्र पहने सराग हैं। उस की साक्षी अरहंतदेव की मूर्ति और बुद्ध देव की प्रतिमा से मिलती है। इसी विषय में वराहमिहिर आचार्य ने अपनी बृहत्संहिता में लिखा है—

> आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशांतमूर्तिश्च।
> दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥४५॥

(अध्याय ५८)

अर्थात्—अरहंतदेव की मूर्ति घुटनों तक लम्बी भुजाओं

वाली, छाती पर श्रीवत्स के चिन्हयुक्त, शांत, नग्न, युवावस्था वाली, सुन्दर बनानी चाहिये।

पद्माङ्कितचरणः प्रसन्नमूर्तिः सुनीचकेशश्च।
पद्मासनोपविष्टः पितेव जगतो भवेद् बुद्धः ॥४४॥
(अध्याय ५८)

यानी—जिसके चरणों में कमल का चिन्ह और प्रसन्न मूर्ति हो, सुन्दर केश नीचे लटके हुए हों, पद्मासन से बैठी हुई संसार के पितासमान होने वह बुद्ध की मूर्ति है।

इसी प्रकार जैन साधुओं में और बौद्ध साधुओं में भी बहुत अन्तर है जब कि जैन साधु अपनी असली ऊंची दशा में समस्त परिग्रह रहित नग्न दिगम्बर होते हैं, तब बौद्ध साधु अखीर दशा तक लाल कपड़ा पहने हुए भोजन लाने के पात्र आदि पदार्थों को लिये हुए होते हैं, उन दोनों की तपस्या में ज़मीन आसमान का अन्तर है। इसी तरह धार्मिक सिद्धान्तों में भी जैनधर्म और बौद्धधर्म पूर्णतया भिन्न भिन्न हैं। बौद्धधर्म जब कि सर्वथा क्षणिकवाद को पकड़ बैठा है तब जैनधर्म कथञ्चित् क्षणिक और कथञ्चित् नित्य का पाठ सिखाता है। बौद्धधर्म प्रथम ही बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष-सिद्ध फिर अनुमान सिद्ध मानता हुआ, पश्चात् योगाचार नामक बौद्ध उन पदार्थों को शून्य और माध्यमिक सारे संसार को ही शून्य बतलाता है जैनधर्म जड़ तथा चेतन पदार्थों को प्रमाण सिद्ध मानता है। बौद्धों ने दुःख, आयतन समुदाय और

मार्ग यह चार तत्व माने हैं किन्तु जैनधर्म ने जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये ७ तत्व माने हैं। जैनधर्म आत्मा की कर्मरहित शुद्धदशा को मोक्ष मानता है, बौद्धर्म आत्मा के अस्तित्व मिट जाने को मोक्ष होना बतलाता है। इत्यादि, अनेक प्रकार दोनों धर्मों के सिद्धान्तों में आर्यसमाज और मुसलमान मत के सिद्धान्तों के समान बहुत भारी अन्तर है।

दूसरे—जैनधर्म बहुत प्राचीन धर्म है जिसके कि मूल संस्थापक भगवान ऋषभदेव पहले तीर्थङ्कर थे, जिनका कि नामोल्लेख वेदों में तथा भागवत आदि में आठवां अवतार आदि मानने के रूप से पाया जाता है, जो कि चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान महावीर स्वामी से लाखों करोडों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे। उनके पीछे भगवान अजितनाथ जी आदि महावीर स्वामी तक तेईस अन्य तीर्थङ्करों ने उसी जैनधर्म का उद्धार किया है। इनमें से सुपार्श्वनाथ जी, अरिष्टनेमि, महावीर आदि तीर्थङ्करों के लिये नमस्कार, वेदों के अनेक मन्त्रों में अभी तक वर्तमान है, अतः जैनधर्म; वैदिकधर्म से भ प्राचीन सिद्ध होता है। तब बौद्धधर्म केवल महात्मा बुद्धको जो कि महावीर स्वामी के यानी २४ वें तीर्थङ्कर के (जिनको कि इस समय २४५० वर्ष बीत चुके हैं) समय में उत्पन्न हुए थे। उन्हीं बुद्ध ने बौधधर्म की नीव डाली है। अत' बौद्धधर्म कुल ढाई हजार वर्ष के पेटे में अपनी प्राचीनता दिखला

सकता है, किन्तु जैनधर्म के उदयकाल का पता लगाना इतिहास की शक्ति से बाहर की बात है। इस कारण प्राचीनता-अर्वाचीनता की अपेक्षा भी बौद्धधर्म और जैनधर्म में भारी अन्तर है।

अमरकोष के २-३ श्लोक पढ़ कर स्वामी जी ने जैनधर्म और बौद्धधर्म को एक धर्म रूप समझने में भारी धोखा खाया है अतः कोषों के प्रमाणसे भी इसका फैसला देखिये—

प्रथम तो अमरकोष के ही द्वितीय कांड ब्रह्मवर्ग के श्लोक ६ठे ७वें के बीचमें क्षेपक श्लोकमें लिखा है कि—

वैशेषिके स्यादौलूक्यः सौगतः शून्यवादिनि।
नैयायिकस्त्वक्षपादः स्यात्स्याद्वादिक आर्हतः॥

अर्थात्—औलुक्यदर्शन वैशेषिक मत है, सौगत यानी बौद्ध शून्यवादी होते है, नैयायिक का दूसरा नाम अक्षपाद है। और स्याद्वादी आर्हत यानी अर्हंत को मानने वाला जैनदर्शन है। स्वामी जी यदि पूरा अमरकोष देख जाते तो उन्हें बौद्धधर्म और जैनधर्मको एक समझने की भूल कदापि नहीं करनी पड़ती। 'जिन' शब्दका अर्थ 'बुद्ध' अमरकोष में देख कर जो स्वामी जी से गलती हुई है, उसके परिशोधनके लिये हम मेदिनी कोषका प्रमाण देते है। देखिये! मेदिनी कोषमे स्पष्ट लिखा है कि—

जिनोऽर्हन्ति च बुद्धे च पुंसि स्यात्त्रिषु जित्वरे।

यानी—पुल्लिङ्ग में 'जिन' शब्द अर्हंत यानी जैनधर्म चलाने

वाले और ,बु'द्ध अर्थात बौद्धमत के संस्थापक के लिये आता है। तथा जीतने वाले के लिये 'जिन' शब्द तीनों लिङ्गों मे ही प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार दोनों कोष स्वामी जी के लिखने को असत्य ठहराते हैं। इसके सिवाय व्याकरणानुसार विचारने पर भी स्वामी जी का जिन शब्द् से जैन और बौद्धधर्म को एक मानने का भ्रम गलत सिद्ध होता है क्योंकि सिद्धान्त कौमुदीके रचयिता भट्टोजिदीक्षित 'जिन' शब्द् का अर्थ "जिनोऽर्हन्" अर्हन्त ही करते है, बुद्ध नहीं।

अजैन दार्शनिकों ने जैनधर्म और बौद्धधर्म को सर्वत्र अलग अलग लिखा है। व्यास विरचित वेदान्त सूत्र के द्वितीय अध्याय में १८ वें सूत्र से ३२ वें सूत्र तक बौद्धधर्म का खण्डन किया गया है और इसके आगे "नैकस्मिन्नसंभवात्, एवं चात्माऽकात्स्न्र्यं, न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः तथा अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः" इन चार सूत्रों में जैनधर्म का प्रतिवाद किया है। सर्वदर्शन-संग्रह-ग्रन्थ मे माधवाचार्य ने १६ दर्शनों मे जैनदर्शन और बौद्धदर्शन को भिन्न भिन्न लिखा है। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक बौद्धों के इन चार भेदों में जैनदर्शनका दर्शन तक नहीं है। वराहमिहिराचार्य्य ने अपनी बृहत्संहिता के ६१ वें अध्याय में लिखा है कि—

शाक्यान् सर्वहितस्य शान्तमनसो नग्नाञ्जिनानां विदुः ॥१६॥

अर्थात्—सर्वहितैषी शान्तमना बुद्ध के उपासक शाक्य यानी बौद्ध होते हैं। जिनदेव के उपासक नग्न यानी जैन होते हैं इत्यादि। अन्य भी दार्शनिक विद्वानो ने जैनधर्म और बौद्धधर्म का भिन्न २ ही उल्लेख किया है। तदनुसार भी स्वामी जी का लिखना भ्रान्त ठहरता है। महाभारत के अश्वमेध पर्व की अनुगीता में अनेक मतो का वृत्तान्त आया है, उसमे भी जैनधर्म और बौद्धधर्म को अलग २ बतलाया है। नीलकठाचार्य भी इस पर अपनी सम्मति इस प्रकार देते हैं कि— "कुछ लोगों का सिद्धांत है कि शरीर नष्ट होजाने के बाद भी जीव रहता है, इसके विपरीत चार्वाक लोग मानते हैं। प्रत्येक वस्तु को सदेह रूप (कथंचित्) रूप स्याद्वादी (जैन) बतलाते हैं। तीर्थङ्करो का कहना है कि पदार्थ सदा स्थिर नहीं रहता है। मीमांसक पदार्थों को नित्य कहते हैं, शून्यवादियों का सिद्धान्त है कि सब शून्य है, कोई पदार्थ नहीं है और संयोक्ता या बौद्ध लोग वस्तुको क्षणिक मानते हैं।" इस प्रकार इनके कथनानुसार भी खुलासा सिद्ध है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से पृथक प्राचीन स्वतन्त्र धर्म है।

श्रीदेवनन्दि आचार्य 'दर्शनसार' नामक ग्रन्थमें (श्लोक ६-७ में लिखते हैं कि—

अर्थात—श्री पार्श्वनाथ नामक २३ वें तीर्थङ्कर के तीर्थ समय में सरयू नदीके किनारे पलास नगर में पिहिताश्रव मुनि

का एक शिष्य बुद्धकीर्ति नामका था, सो एक समय सरयू में बाढ़ आने पर सरयूके किनारे पर मरी हुई मछली को देखकर दीक्षा से भ्रष्ट होकर उसे जीव रहित, पवित्र समझ खागया और फिर उसने रक्ताम्बर यानो लाल कपडे पहन कर नवीन क्षणिक-वादरूप एकान्तमत (बोद्धमत) चलाया।

इससे भी सिद्ध होता है कि बौद्धधर्म जैनधर्मसे सर्वथा भिन्न धर्म है जो कि जैनों के २४ वें तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के समय में बुद्धदेवने चलाया है।

दर्शनसार की यह बात कि महात्मा बुद्ध पहले जैनसाधु के शिष्य होकर जैनसाधु के रूपमें रहे थे—ऐतिहासिक दृष्टिसे खाली, कल्पनामात्र नहीं है। महात्मा बुद्ध का प्रारम्भिक साधु जीवन प्रसिद्ध बौद्धग्रंथ मज्झिमनिकाय महासीहनाद सुत्त १२ मे यो लिखा है—

"अचेलको होमि, हत्थापलेखनो होमि, केसमस्सुलोचको विहोमि।"

अर्थात— महात्मा बुद्ध अपनी प्रारम्भिक साधुचर्या के विषयमे कहते है कि "मैं नग्न रहा, मै अपने हाथों पर भोजन खाता था तथा मैं अपने शिर, डाढ़ी मूछों के बालोका लोंच करता था।"

समस्त वस्त्र त्याग करके अचेलक नग्न रहना, हाथो मे भोजन करना, तथा अपने हाथों से अपने बालो का लोंच करना यह जैन साधुओंका रूप प्राचीनकाल से अब तक चला आरहा है।

अतः मज्झिमनिकाय के लिखे अनुसार महात्मा बुद्धका प्रारम्भिक साधु जीवन जैनसाधु के रूपमे था—यह उनके ही प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ से सिद्ध होता है। महात्मा बुद्धका वह जैनसाधु का रूप ३५ वर्षकी अवस्था तक रहा था। २६ वर्षकी आयु में उन्हो ने गृहस्थाश्रम छोड़ा था।

अब इसी विषय में प्रसिद्ध २ इतिहासवेत्ता विद्वानों के मत भी देख लीजिये। प्रोफैसर श्रीमान डा० हर्मन जेकोबी एम० ए० पी० एच डी० बोन जर्मनी लिखते हैं कि—

"जैनधर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है, मेरा विश्वास है कि वह किसीका अनुकरण नहीं है और इसी लिये प्राचीन भारतवर्ष के तत्वज्ञान का और धर्म पद्धतिका अध्ययन करने वालों के लिये वह बड़े महत्वकी चोज है।"

बा० अम्बुजाक्ष सरकार एम० ए० एल० लिखते हैं कि—

"यह अच्छी तरह प्रमाणित होचुका है कि जैन धर्म बौद्धधर्म को शाखा नहीं है। महावीर स्वामी जैनधर्मके स्थापक नहीं हैं, उन्होंने केवल प्राचीन धर्मका प्रचार किया है।"

स्वामी जी ने जेनधर्म, बौद्धधर्म को एक ठहराने के लिये

राजा शिवप्रसाद् जी सतारे हिन्द् के लेखका प्रमाण दिया है। अब हम इस विषय में सतारेहिन्द् जीका अभिमत प्रकट करते हैं—आप अपने एक पत्रमें लिखते हैं कि—

"जैन और बौद्ध एक नहीं हैं, सनातन से भिन्न भिन्न चले आये हैं, जर्मन देशके एक बड़े विद्वान ने इसके प्रमाण में एक ग्रन्थ छापा है, इतिहास तिमिरनाशक का आशय स्वामी जी की समझमें नहीं आया।"

[१२]

जैनधर्म का उदयकाल सबसे पुरातन है?

विचारशील महानुभावो! अन्य विषयों में प्रवेश करने के पहिले हम को यह अच्छा और आवश्यक दीखता है कि जैनधर्म के प्रादुर्भाव होने का समय निश्चित कर लें, क्योंकि इस बात का निर्णय किये बिना आगे अनेक अड़चन खड़ी दृष्टिगोचर होंगी तथा इतिहासज्ञों ने इस विषय में अपना कोई एक निश्चित मत भी नहीं दिया है। किसी विद्वान् के मत में जैनधर्म ने बौद्धधर्म के उत्पत्ति-समय में भगवान महावीर स्वामी से जन्म पाया है, किसी विद्वान् के मत में बौद्धधर्म से पूर्व किन्तु वैदिक धर्म के पीछे जैनधर्म का उदय हुआ है, तो अनेक निष्पक्ष वेदानुयायी, इतिहासवेत्ता इस विषय में अपना यह मत

प्रगट करते है कि जैनधर्म की उत्पत्ति का समय वैदिकधर्म से भी प्रथम है। इत्यादि रीति से इतिहास इस विषय को अनिश्चय के झूले मे झुलाता है। एव स्वामी जी सत्यार्थप्रकाशके ११ वें समुल्लास मे ३०२ पृष्ठ पर लिखते हैं कि "जब इन पोपों का ऐसा अनाचार देखा और दूसरा मरे का तर्पण श्राद्धादि करने को देखकर एक महाभयङ्कर वेदादिशास्त्रोंका निन्दक बौद्ध वा जैनमत प्रचलित हुआ।" यानी स्वामी जी की राय में जैनधर्म वैदिकधर्म से पीछे उत्पन्न हुआ है। अत इस विषय का निश्चय करने के लिए उतरना आवश्यक है।

तदनुसार • अजैनदर्शनों में प्रथम ही जब बौद्धदर्शन का विचार करते है तब अनेक प्रमाणों से उस का उत्पत्ति समय ढाई हजार वर्ष पहले का ठहरता है क्योंकि इस दर्शन के जन्मदाता महात्मा बुद्ध इतने वर्ष पहले ही महावीर स्वामी के समकालीन हुए है, उससे पहले बौद्धधर्म इस संसार में नहीं था। वेदान्त पर दृष्टिपात करने समय मालूम होता है कि इस दर्शन के मूलविधाता महर्षि व्यास, महात्मा बुद्ध से पीछे हुए हैं क्योंकि उन्हों ने वेदान्त दर्शन में बौद्धधर्म का खण्डन किया है। व्यासजी सम्राट् चन्द्रगुप्त से भी पीछे हुए हैं, क्योंकि उन्हो ने पतञ्जलीकृत योगदर्शन की व्याख्या लिखी है और पतञ्जली ने पाणिनि-व्याकरण के दूसरे अध्याय मे चौथे पादके २३ वें सूत्रको द.का

करते हुए ऐसा कहा है, कि राजा को चन्द्रगुप्त के समान सभा नियुक्त करनी चाहिये। अतः सिद्ध होता है कि पतञ्जली चन्द्रगुप्त के समकालीन और व्यास उन के पीछे या समकालीन हुए हैं। न्याय, वैशेषिक सांख्य आदि दर्शनों के उत्पन्न होने का समय जब देखते हैं तो पता चलता है; कि इनके प्रणेता ऋषि गौतम कणाद, कपिल आदि प्रायः व्यास, पतञ्जली के समकालीन हुए हैं। क्योंकि इन्होंने अपने अपने दर्शनों में परस्पर एक दूसरे की निन्दा और खण्डन लिखा है, जिस से कि भली भांति सुगमता से सिद्ध होता है कि षट दर्शनों का जन्मकाल ढाई हजार वर्ष के पीछे मे ही है। इन के सिवाय अन्य जो मत हैं, वे भी प्रायः ढाई हजार वर्ष से पुराने नहीं हैं, केवल एक वैदिक धर्म रह जाता है। यद्यपि वैदिकधर्म कोई खास धर्म नहीं है, क्योंकि जो वेदानुयायी हैं उन के भिन्न २ न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि छह दर्शन और उन के भी कई विशेष भेद प्रचलित हैं, जिनका कि परस्पर में बहुत मतभेद है, क्योंकि उन में से कोई ईश्वरवादी, कोई अनीश्वरवादी, कोई प्रकृतिवादी, कोई ब्रह्मवादी हैं। यदि इन का कुछ समय के लिये परस्पर में वाक् युद्ध हो जावे तो बहुत शीघ्र एक दूसरे को ठण्डा कर देवें, ऐसा होने पर भी मजा यह है, कि वे सभी वेदानुयायी हैं। अस्तु, किन्तु फिर भी हम वेदों की खातिर कुछ समय के लिये वैदिक धर्म मान कर उस की प्राचीनता टटोलेंगे और उस की तुलना जैनधर्म के उदयकाल के साथ करेंगे।

सनातनधर्मावलम्बियो के गणेशपुराण, शिवपुराण आदि १८ पुराणों के बनाने वाले व्यास ऋषि महाभारत के समयवर्ती बतलाये जाते हैं, क्योंकि पराशर ऋषिके ये पुत्र थे और सत्यवती (मत्स्यगन्धा) नामक मल्लाह की पुत्री के उदरसे उत्पन्न हुए थे, जिसको कि पराशरऋषि ने प्रसन्न होकर अनन्तयौवना कर दिया था और फिर जिसका कि पाणिग्रहण महाराज शान्तनु ने किया था। इस विषय में यद्यपि कोई प्रामाणिक साक्षी नहीं है, किन्तु फिर भी इसे यदि सत्य मान लिया जाय तो पुराणो का निर्माणसमय वेदों से पीछे, किन्तु बहुत प्राचीन ठहरता है। देखना चाहिये कि उस समय जैनधर्म का सद्भाव था या नहीं ?

भगवान् ऋषभनाथ जी जैनधर्म के जन्मदाता प्रथम तीर्थकर हुए हैं। उन के पिता का नाम नाभिराज, माता का नाम मरुदेवी और बड़े पुत्रका नाम भरत था। उन के विषय मे पुराणो में इस प्रकार उल्लेख है— शिवपुराण मे—

कैलाशे पर्वते रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिव ॥ ५६ ॥

अर्थात्—केवलज्ञानद्वारा सर्वव्यापी कल्याण स्वरूप सर्वज्ञाता यह ऋषभनाथ जिनेश्वर मनोहर कैलाश पर्वत पर उतरते हुए ॥ ५६ ॥

ऋषभनाथ जी ने कैलाशपर्वत से मुक्ति पाई है। 'जिन' और अर्हत् ये शब्द जैन तीर्थंकर के लिये ही रूढ़ हैं।

ब्रह्माण्डपुराण में देखिये—

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां मनोहरम्।
ऋषभं क्षत्रियज्येष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥५६॥
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
भिषिच्य भरतं राज्ये महाप्राव्राज्यमास्थित. ॥६०॥

इह हि इक्ष्वाकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मःस्वयमेवाचीर्णः केवलज्ञानलाभाच्च प्रवर्तित।

यानी—नाभिराजाने मरुदेवी महाराणीसे मनोहर, क्षत्रियों में प्रधान और समस्त क्षत्रिय वंश का पूर्वज ऐसा ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न किया। ऋषभनाथ से, शूरवीर, सौ भाइयों में सब से बड़ा ऐसा, भरत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऋषभनाथ उस भरत का राज्याभिषेक करके स्वयं दिगम्बर दीक्षा लेकर मुनि हो गये। इसी आर्यभूमि में इक्ष्वाकु क्षत्रियवंश में उत्पन्न, नाभि राजा के तथा मरुदेवी के पुत्र ऋषभनाथ ने क्षमा, मार्दव, आर्जव सत्य शौच संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, और ब्रह्मचर्य यह दश प्रकार का धर्म स्वयं धारण किया और केवल ज्ञान पाकर उन धर्मों का प्रचार किया।

प्रभासपुराण में ऐसा उल्लेख है—

युगे युगे महापुण्या दृश्यते द्वारिकापुरी।
अवतीर्णो हरिर्यत्र प्रभासे शशिभूषणः॥

रैवताद्रौ जिनो नेमियुगादिर्विमलाचले ।
ऋषीणामाश्रयादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥

अर्थात—प्रत्येक युग मे द्वारिकापुरी बहुत पुण्यवती दृष्टिगोचर होती है, जहाँ पर कि चन्द्रसमान मनोहर नारायण जन्म लेते हैं। पवित्र रैवताचल (गिरनार पर्वत) पर नेमिनाथ जिनेश्वर हुए, जो कि ऋषियो के आश्रय और मोक्षके कारण थे।

भगवान नेमिनाथ जी, कृष्णके ताऊ (वसुदेव के बडे भाई) महाराज समुद्रविजय के पुत्र द्वारिकानिवासी थे, उन्हों ने गिरनार पर्वत (रैवताचल) पर तपस्या करके मोक्ष पाई है। ये बाईसवें तीर्थङ्कर तथा कृष्ण के चचेरे भाई थे।

स्कन्दपुराण में यों लिखा है—

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं नत्वा रैवतकाचलम् ।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे पुनर्जन्म न विद्यते ॥
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वदेवनमस्कृतः ।
छत्रत्रयाभिसंयुक्तां पूज्यां मूर्तिमसौ वहन् ॥
आदित्यप्रमुखा सर्वे बद्धाञ्जलय ईदृश ।
ध्यायन्ति भावतो नित्यं यदङ्घ्रियुगनीरजम् ॥
परमात्मानमात्मानं लसत्केवलनिर्मलम् ।
निरञ्जनं निराकारं ऋषभन्तु महाऋषिम् ॥

भाषा—शत्रुञ्जय तीर्थ का स्पर्श करके, गिरनारपर्वत को नमस्कार करके और गजपन्था के कुण्ड में स्नान कर लेने पर

फिर जन्म नहीं लेना पड़ता. यानी मुक्ति हो जाती है। ऋषभनाथ सर्वज्ञाता, सर्वदृष्टा और समस्त देवों से पूजित हैं। उन निरञ्जन, निराकार, परमात्मा केवलज्ञानी, तीनछत्रयुक्त, पूज्यमूर्तिधारक, महाऋषि ऋषभनाथ के चरणयुगल को हाथ जोड कर हृदय से आदित्य आदि सुर नर ध्यान करते हैं।

शत्रुञ्जय, गिरनार, गजपन्था ये तीनों क्षेत्र जैनियों के तीर्थ स्थान है।

नागपुराण में कहा है कि—

अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।
आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत् ॥

अर्थ—जो फल ६८ तीर्थों के यात्रा करने मे होता है, वह फल आदिनाथ भगवान के स्मरण करने से होता है।

ऋषभनाथ का दूसरा नाम आदिनाथ है, क्योंकि ये प्रथम तीर्थंकर थे।

स्कन्धपुराण प्रभास खण्ड के वस्त्रापथ क्षेत्र माहात्म्य अध्याय १६ पृ० २२१ में गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ का जिक्र है।

वामनोपि ततश्चक्रे तत्र तीर्थावगाहनम्।
यादृग्रूपः शिवोदृष्टः सूर्यबिम्बे दिगम्बरः॥ ९४
पद्मासनस्थितः सौम्यस्तथा तं तत्र सस्मरन्।
प्रतिष्ठाप्य महामूर्ति पूजयामासवासरम् ॥९५

मनोभीष्टार्थसिद्ध्यर्थं ततः सिद्धमवाप्तवान्।
नेमिनाथ शिवेत्येवं नाम चक्रे स वामनः ॥६६

भावार्थ—वामन ने सूर्य के प्रतिबिम्ब में पद्मासन स्थित सौम्य और दिगम्बर शिवजी का रूप देखकर उस महामूर्ति की प्रतिष्ठा करके पूजन की और अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये नेमिनाथ शिव इस मन्त्र की जाप की।

वामनावतार पर निगाह डालिये—

वामनेन रैवते श्रीनेमिनाथाग्रे बलिबन्धनसामर्थ्यार्थं तपस्तेपे।

यानी—गिरनार पहाड़ पर श्रीनेमिनाथ जिनेन्द्र के सामने बलिराजा को बांधने की सामर्थ्य पाने के लिये वामन ने तप किया था।

'ऋषभ' शब्द का अर्थ 'आदि जिनेश्वर' ही है। इस विषय में शङ्का करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऋषभ शब्द का अर्थ वाचस्पतिकोष में 'जिनदेव' और शब्दार्थचिंता मणि में 'भगवद्वतारभेदे, आदिजिने' यानी भगवान का एक अवतार और प्रथम 'जिनेश्वर' यानी तीर्थंकर किया है।

भास्कर ग्रंथमाला नं० २ (संस्कृत हिन्दी कोष) जो मेरठ से प्रकाशित हुआ है, उसमें लिखा है कि—

(अर्हन-अर्हन्त) जैन तीर्थंकर (ऋषभदेव) भागवत के अनुसार राजा नाभि के पुत्र जो विष्णु के चौबीस अवतारों में गिने जाते हैं २ जैनियों के आदि तीर्थंकर। (जिन) जैन तीर्थंकर।

(जिनेन्द्र) जैन अर्हत्—जैनोंका सर्वोत्तम उपास्य देव (तीर्थंकर) जैनोंका उपास्यदेव। ४। (शब्द कल्पद्रुम कोष)

(अरिष्टनेमिः) जिनानां चतुर्विंशत्यन्तर्गतद्वाविंशति तीर्थंकर. (ऋषभः) आर्हद् जिन-भगवद्वावतारविशेष (जिन) अर्हत्। (तीर्थ-कृत्-तीर्थंकर) जिन. (महावीरः) अंतिमजिन-।

इसके सिवा जैनधर्म के जन्मदाता, प्रथम तीर्थंकर भ० ऋषभनाथ जी को आठवां अवतार बतलाकर भागवत के पाँचवें स्कन्ध के चौथे पांचवें और छठे अध्याय में बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, हम उस प्रकरणको यहाँ उद्धृत करके इस लेखको बढ़ाना उचित नहीं समझते। अतः उसे छोड़ कर आगे बढ़ते हैं। पाठक महाशय भागवत के पांचवें स्कन्ध को अवश्य देखनेका कष्ट उठावें। उपरिलिखित ग्रन्थों के प्रमाणों से इतना तो सुगमतासे सिद्ध होजाता है कि सृष्टिके प्रारम्भ समयमे भगवान ऋषभनाथ हुये है और वे पहले जिन (तीर्थङ्कर) थे। तदनुसार जैनधर्म की स्थापना उस समय हुई थी-यह बात स्वय-मेव तथा ऋषभनाथ जी के साथ जिन विशेषण रहने से सिद्ध होती है। इस कारण जैनधर्म के उदयकाल का ठिकाना भगवान ऋषभनाथका जमाना है, जो कि १०-२० हजार वर्ष के इतिहास से भी बहुत पहिले विद्यमान था।

बहुत प्राचीन 'योगावशिष्ठ' नामक ग्रंथमें वैराग्य प्रकरण के १५ सर्ग मे ऐसा उल्लेख है—

नाहं रामो न मे वांछा भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

अर्थात्— रामचन्द्र जी कहते हैं कि मैं राम नहीं हूं, मेरे किसी पदार्थकी इच्छा भी नहीं है, मै जिनदेवके समान अपनी आत्मामे ही शान्ति स्थापन करना चाहता हू।

इससे साफ साबित होता है कि रामचन्द्र जी के समयमें जैनधर्मका तथा उसके उद्धारक जिनदेवों (तीर्थंकरों) का अस्तित्व था।

इन सबके सिवाय अब हम वेदोंकी ओर बढ़ते हैं। देखें, वहां भी कुछ हमारे हाथ आ सकता है या नहीं? क्योंकि आधुनिक उपलब्ध समस्त ग्रंथो मे वेद ही सबसे प्राचीन माने जाते हैं स्वामी जी के लिखे अनुसार वेद यद्यपि ईश्वर रचित नहीं हैं, किन्तु अनेक ऋषियों ने वेदों को दृश्यमान काया बनाकर तैयार की हैं। इस विषय को हम आगे सिद्ध करेंगे, तो भी यदि आपके आग्रह से कुछ समय के लिये उन्हे सृष्टि की आदिमें ईश्वर प्रणीत ही मान लें, तो भी मित्रो! जैनधर्म सृष्टिसे पूर्व अथवा इतना नहीं तो कमसे कम सृष्टिके प्रारम्भ से प्रचलित हुआ सिद्ध होता है। क्योंकि मंत्रकारोंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के अनेक मन्त्रोमे जैन-तीर्थंकरों (अवतारों) का नाम उल्लेख करके उनको नमस्कार किया है। अवलोकन कीजिए—

ऋग्वेद पर प्रथम ही दृष्टिपात कीजिए—

आदित्या त्वगसि आदित्य सद आसीद् अस्तभ्नाद्द्यां वृषभोन्तरिक्षं व मिमीने वरिमाण । पृथिव्याः आसीत् विश्वा भुवनानि सम्राड्विश्वे तानि वरुणस्य व्रतानि । ३० अ० ३ ।

अर्थ— तू अखण्ड पृथ्वी मण्डल का सारत्वचास्वरूप है, पृथ्वीतल का भूषण है, दिव्यज्ञान द्वारा आकाश को नापता है, ऐसे हे वृषभनाथ सम्राट ! इस संसारमें जगरक्षक व्रतों का प्रचार करो ।

याति धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वापरि भूरस्तु यज्ञं । गयास्फानं प्रतरण सुवीरो वीरहा प्राचार सोम दुर्यात् । ३७ अ० ३-१-६-२२ सू० ६१ ।

अर्थ—यज्ञतारक सुवीर (महावीर) को जो सोम रस चढ़ाते हैं तथा जो पुरुष उस वीर को नैवेद्य से पूजते हैं, वे पुरुष संसार में उन्नत होवेंगे ।

मरुत्वं तं वृषभं वावृधानमकवारि दिव्यशासनमिंद्रं विश्वा- साहमवसे नूतनायोग्रं ससदो वामिह ताह्वयेमः ॥ ३६ ।

४-६-८-६-२-२०

अर्थ—भो यजमान लोगो ! इस यज्ञ में देवो के स्वामी, सुखसंतानवर्द्धक दुःखनाशक, दिव्यआज्ञाशाली, अपारज्ञानबलदाता वृषभनाथ भगवान को आह्वान करो (बुलावो) ।

मरुत्वान् इन्द्र वृषभो रणायपि वा सोमनुष्वध्वं मदाय । आसिञ्चस्व जठरे मध्वा, ऊर्मित्वा राजासि प्रदिवः सुतानाम् । ३८ । अ० ७-३-३-११ ॥

हे वृषभनाथ भगवन्! उदरतृप्ति के लिये सोमरस के पिपासु मेरे उदर मे मधुधारा सिंचन करो। आप अपनी प्रजारूप पुत्रो को विषम संसार से तारने के लिये गाडी समान हो।

समिद्धस्य प्रमंहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियं। वृषभो द्युम्नवा मसि स मध्वरेष्विध्यसे॥ ४-१२२-५-२-२६

भो वृषभदेव! आप उत्तम पूजक को लक्ष्मी देते हो, इस कारण मैं आपको नमस्कार करता हूं और इस यज्ञ में पूजता हूं।

अर्हन्ताये सुदानवो नरो असामि शवसः। यज्ञ यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्व.। अ० ४ अ० ३ वर्ग ८।

जो मनुष्याकार अनन्तदान देने वाले और सर्वज्ञ अर्हन्त है, वे अपनी पूजा करने वालों की देवों से पूजा कराते है।

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजत विश्वरूपम्
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति।
अ० २ अ० ७ व० १७॥

भो अर्हन्देव! तुम धर्मरूपी बाणों को, सदुपदेशरूप धनुष को, अनन्तज्ञानादिरूप आभूषणो को धारण किये हो। भो अर्हन्! आप जगतप्रकाशक, केवलज्ञान को प्राप्त किये हुये हो, ससार के जीवों के रक्षक हो, काम क्रोधादि शत्रु- समूह के लिये भयंकर हो तथा आपके समान कोई अन्य बलवान नहीं है।

'ऋषभ' मा समानानां सपत्नानां विषासहिम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ॥१॥

ऋ० अ० ८, अ० ८, व० २४

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों 'अरिष्टनेमिः' स्वस्तिनो वृहस्पतिर्दधातु ॥

ऋ० अ० १ अ० १ व १६ साम० ३, प्र० ६
तथा यजु० अ० २५ मं० १६ ।

नम सुवीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनम् ।
दधातु दीर्घायुस्त्वाय बलाय वर्चसे सुप्रजास्त्वाय रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा । (बृहदारण्यके)

'ऋषभ' एव भगवान् ब्रह्मा भगवता ब्रह्मणा स्वयमेवाचीर्णानि ब्रह्माणि तपसा च प्राप्त' परं पदम् ॥ (आरण्यके)

इत्यादि और भी अनेक मन्त्र ऋग्वेद मे विद्यमान हैं, जिन में जैनधर्म के उद्धारकर्ता तीर्थंकरा का नाम उल्लेख करके उन को नमस्कार किया है। ऋषभनाथ, सुपार्श्वनाथ, नेमिनाथ (अपरनाम अरिष्टनेमि) वीरनाथ (अपरनाम महावीर) आदि जैन अरहंतों (तीर्थंकरों) के नाम हैं ।

यजुर्वेद में भी देखिये—

ॐ नमो अर्हतो ऋषभो ॐ ऋषभः पवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परममाह संस्तुतं वरं शत्रुं जयतं पशुरिन्द्रमाहुरिति स्वाहा । ॐ त्रातारमिन्द्रं ऋषभं वदन्ति अमृतारमिन्द्रं हेव सुगतं

सुपार्श्वमिंद्रमाहुरिति स्वाहा। ॐ नग्नं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनं उपेमि वीरं पुरुष महांतमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात् स्वाहा।

वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमा च विश्वभुवनानि सर्वत.। स 'नेमिराजा' परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मै स्वाहा। अ० ६ मंत्र २५।

अर्थ—भावयज्ञ (आत्मस्वरूप) को प्रगट करने वाले इस ससार के सब जीवों को सब प्रकार से यथार्थरूप से कह कर जो 'सर्वज्ञ नेमिनाथ' स्वामी प्रगट करते हैं, जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा पुष्ट होती है, उन 'नेमिनाथ तीर्थंकर' के लिये आहुति समर्पण है।

आतिथ्यरूप मासर महावीरस्य नग्नहुः। रूपामुपासदामेतत्तिथौ रात्रीः सुरासुताः। अ० १६ म० १४।

अर्थ—अतिथिस्वरूप पूज्य, मासोपवासी, नग्नस्वरूप महावीर तीर्थंकरकी उपासना करो, जिस से कि सशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप तीन अज्ञान धनमद, शरीरमद, विद्यामद की उत्पत्ति नहीं होती है।

ककुभः रूपं 'वृषभस्य' रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगा सोमसोमस्य पुरोगाः। यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै तं सोमसोमाय स्वाहा।

इत्यादि और भी बहुत सी श्रुतिया यजुर्वेदमें ऐसी विराज-

मान हैं जो कि बहुत आदरभाव के साथ जैन-तीर्थङ्करों को नमस्कार करने के लिये प्रेरित कर रही हैं।

अब कुछ नमूना सामवेदमें भी अवलोकन कीजिये—

अप्वा यदि मे पवमान रोदसी इमा च विश्वा। भुवनानि मन्मना यूथेन निष्ठा 'वृषभो' विराजसि॥ ३ अ० १ खं० ११॥

सत्राहणं दाधषि तुम्रमिन्द्रं, महामपारं 'वृषभं' सुवज्रं। तापो हं वृत्रहा सनितो तं वाजं दातामघानं मघवासुराधाः। अ० १ मं०५। १०३। पू ४-१-४॥

न ये दिवः पृथिव्या अंतमापुर्न माया भिर्धनदा पर्यभुवन, युजं 'वज्रवृषभश्चक्रे' इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसोगा अदुक्षत्॥ १० प० २३ ऋग्वेद १। ३। २॥

इम स्तोम 'अर्हते' जाते जातवेदसे रथं इव संमहे यम मनोषया भद्रा। हि न प्रमंति अस्य संसदि अग्ने सख्ये मारिषा मवय तवः। १० अ० प० ८५। १-६-३०॥

तरणित्सदासति वीजं पुरं ध्याः युजा आव इन्द्रपुरुहूतं नमोगिरा 'नेमिं' तुष्टेव शुद्रं॥ २० अ० ५ अ० ३ च० १७॥ ३ प्र१-६

इत्यादि और भी बहुतसे मन्त्र सामवेद में जैन तीर्थङ्करों के लिये पूज्यभाव प्रगट करने वाले विद्यमान हैं, जिनका उल्लेख करना व्यर्थ समझ कर उन्हें छोड देते हैं। अथर्ववेद के मन्त्रों से हम जैनधर्मकी प्राचीनता का उदाहरण आपके सन्मुख पेश नहीं कर सके हैं। इसके लिये आप लोग अपने उदार हृदय से क्षमा प्रदान कीजिये।

इन उपर्युक्त प्रमाणो से अच्छी तरह सिद्ध होता है कि वेदों की रचना से पहिले जैनधर्म इस पृथ्वीतल पर बड़े प्रभावक के साथ फैला हुआ था। मुहुनजोदारोसे प्राप्त ५ हजार वर्ष पुरानी सीलोंपर भगवान ऋषभदेवकी मूर्ति तथा 'नमो जिनेश्वराय' आदि वाक्य अङ्कित है। इससे सिद्ध होता है कि जैनधर्म आजसे पांच हजार वर्ष पहले भी विद्यमान था और उसके आदि तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव बड़े आदरभाव से माने जाते थे।

वेद यदि तीन हजार वर्ष पहिले बने है तो उसके पूर्व, यदि वे पांच हजार वर्ष पहिले बने है तो पांच हजार वर्ष पहिले, और यदि स्वामी जी के लेखानुसार वेदों का निर्माण समय १९७२९४९०२५ • वर्ष पहिले था तो जैनधर्म भी इस ससार मे इसके पहले अवश्य विद्यमान था, क्यो कि उसका अस्तित्व सिद्ध करने वाले पूर्वोक्त अनेक वेदमन्त्र विद्यमान है। यद्यपि इन मन्त्रो का अर्थ स्वामी जी ने कुछ का कुछ लगा कर पलटना चाहा है। किन्तु स्पष्ट शब्दों का अर्थ नहीं बदला जा सकता; उनसे तो साफ प्रकट होता है कि जैनधर्म में जो उसके उद्धारक तीर्थंकर माने है, उनके नाम उल्लेख करके ही यह सब कुछ लिखा गया है।

अत यदि महाभारत के समय देखा जाय तो उस समय श्री नेमिनाथ जी तीर्थंकर विद्यमान थे जैसा कि उस समय वाले पुराण ग्रन्थों से भी प्रगट होता है। अतः उस समय जैनधर्मका सद्भाव स्वत सिद्ध है। यदि रामचन्द्र, लक्ष्मण के समयका विचार किया जाय तो उस समय भी जैनधर्मकी सत्ता पाई जाती,

है, क्योंकि उस समय जैनोंके २० वें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत-नाथ जी ने जैनधर्मका प्रचार किया था, जिसका प्रभाव उस समय वाले बने हुये वशिष्ठकृत 'योगवाशिष्ठ'के पूर्वलिखित श्लोक से प्रगट होता है। अब विचार कीजिये--उस समय से पहले १६ तीर्थंकर और होचुके थे, जिन्होंने जैनधर्मका प्रचार किया था। तब जैन धर्म इस संसार में कितने समय से प्रचलित हुआ है? भगवान ऋषभनाथ जी सबसे पहले जैनधर्म को प्रचार में लाये थे। अतः उनका सद्भावकाल मालूम होजाने पर जैन धर्मका प्रारम्भकाल ज्ञात हो सकता है। इस महत्वपूर्ण, आवश्यक बात के लिये हमारा समझ से इतिहास तो हार मानता है, क्योंकि वह तो बेचारा ४-५ हज़ार वर्ष से पहले जमाने का हाल प्रगट करने में असमर्थ है। अब स्वामी जी यहां आ कर भगवान ऋषभनाथ जी के जमाने को बतला जावें तब ठीक हो। आप लोगों को जैनधर्म से पूर्व वैदिकधर्म के होने को स्वामी जी के लिखे अनुसार आशा थी सो वेदों ने भी वैसा न करके आपको निराश कर दिया।

सारांश—किसी भी प्रमाण से जैनधर्म का प्रारम्भकाल सिद्ध नहीं होता, तथा अन्य धर्मों का उदय-समय अवगत होता है, अतः जैनधर्म सब से अधिक प्राचीन धर्म है। वेद उसके पीछे बने हैं वेदों के बनने से बहुत समय पहले **श्रीऋषभनाथजी** तीर्थङ्कर हो चुके हैं, जिनको कि हिन्दुओंने आठवां या नवमां अवतार बतलाकर भागवत, प्रभासपुराण आदि

पुराणों में, मनुस्मृति में तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद में स्मरण किया है। अत: जैनधर्म का उदयकाल बतलाना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। पक्षपात छोड़ कर विचारिये।

अब आपके सामने प्रसिद्ध प्रसिद्ध प्राचीन इतिहास वेत्ताओं के मत जैनधर्म के उदयकाल बतलाने के विषय मे प्रगट करते है। देखिये कि वे लोग भी क्या कहते हैं—

प्राचीन इतिहास के सुप्रसिद्ध आचार्य प्राच्यविद्यामहार्णव श्रीनगेन्द्रनाथ जी वसु अपने 'हिन्दी विश्वकोष' के प्रथम भाग मे ६४ वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

ऋषभदेवने ही संभवतः लिपिविद्या के लिये लिपिकौशलका उद्भावन किया था। ऋषभदेव ने ही संभवतः ब्रह्मविद्या शिक्षा की उपयोगी ब्राह्मीलिपि का प्रचार किया, हो न हो, इस लिये वह अष्टम अवतार बताये जाकर परिचित हुए।

इसी कोष के तीसरे भाग में ४४४ वें पृष्ठ पर यों लिखा है—

भागवत के २२ अवतारों में **ऋषभ** अष्टम है। इन्होंने भारतवर्षाधिपति नाभिराजा के उर से और मरुदेवी की गर्भ मे जन्म ग्रहण किया था। भागवत में लिखा है कि—जन्म लेते ही ऋषभनाथ के अङ्ग में से सब भगवत के लक्षण झलकते थे। इत्यादि।

श्रीमान् **महामहोपध्याय डाक्टर सतीशचन्द्रजी**

विद्याभूषण एम० ए० पी० एच० डी०, एफ० आई० आर० एस० सिद्धांतमहोदधि प्रिंसिपल संस्कृत कालेज कलकत्ता, अपने भाषण में फरमाते हैं—

जैनमत तब से प्रचलित हुआ है जब से संसार में सृष्टि का प्रारम्भ हुआ है। मुझे इसमें किसी प्रकारका उज्र नहीं है कि जैनदर्शन वेदांतादि दर्शनों से पूर्व का है।

भारतगौरव तिलक विद्वतशिरोमणि लोकमान्य पं० वालगङ्गाधर जी तिलक अपने केसरी पत्र में १३ दिसम्बर सन् १९०४ को लिखते हैं कि—

महावीर स्वामी जैनधर्म को पुनः प्रकाशमें लाये। इस बातको आज २४०० वर्ष व्यतीत होचुके हैं। बौद्धधर्म की स्थापना के पहले जैनधर्म फैल रहा था, यह बात विश्वास करने योग्य है। चौबीस तीर्थङ्करों में महावोर स्वामी अन्तिम तीर्थङ्कर थे। इससे भी जैन धर्म की प्राचीनता जानी जाती है।

मिस्टर कन्नूलाल जी एम० ए० जज दिसम्बर तथा जनवरी स १९०४-५ को थिओसोफिस्ट में लिखते हैं—

जैनधर्म एक ऐसा प्राचीन धर्म है कि जिस को उत्पत्ति तथा इतिहास का पता लगाना एक बहुत ही दुर्लभ बात है, इत्यादि ।

श्रीयुत वरदाकांत जी मुख्योपाध्याय एम० ए० लिखते हैं।

पार्श्वनाथ जी जैनधर्म के आदि प्रचारक नहीं थे परन्तु इसका प्रचार ऋषभदेव जी ने किया था, इसकी पुष्टि के प्रमाणों का अभाव नहीं है।

श्रीयुत तुकाराम कृष्ण जी शर्मा लद्दू बी. ए. पी. एच. डी, एम. आर. ए. एस, एम. ए. एस. बी. एम. जी. ओ. एस. प्रोफेसर शिलालेख आदि क्वीन्स कालेज बनारस, अपने व्याख्यान मे कहते हैं—

सब से पहले इस भारतवर्ष में ऋषभदेव जी नाम महर्षि उत्पन्न हुये। वे दयावान, भद्रपरिणामी पहले तीर्थङ्कर हुये; जिन्होंने मिथ्यात्व अवस्था को देख कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक-चारित्ररूपीशास्त्र का उपदेश किया। बस, यह ही जिनदर्शन इस कल्प में हुआ ! इसके पश्चात

अजितनाथ से लेकर महावीर तक तेईस तीर्थङ्कर अपने अपने समय अज्ञानी जीवों का मोह-अन्धकार नाश करते रहे।

श्री स्वामी विरुपाक्ष वडियर धर्मभूषण पंडित वेदतीर्थ विद्यानिधि एम० ए० प्रोफेसर संस्कृत कालेज इन्दोर 'चित्रमय-जगत' में लिखते हैं कि—

ईर्षा-द्वेष के कारण धर्मप्रचार को रोकने वाली विपत्ति के रहते हुए जैनशासन कभी पराजित न होकर सर्वत्र विजयी होता रहा है। अर्हन्तदेव साक्षात परमेश्वर स्वरूप हैं, इसके प्रमाण भी आर्षग्रन्थों में पाये जाते हैं। अर्हंत परमेश्वर का वर्णन वेदों में भी पाया जाता है।...... ......

ऋषभदेव का नाती मरीची प्रकृतिवादी था और वेद उस के तत्वानुसार होने के कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रन्थों की ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है। फलतः मरीची ऋषि के स्तोत्र; वेद, पुराण आदि ग्रन्थों में हैं और स्थान स्थानोंमें जैन-तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है तो कोई कारण नहीं कि हम वैदिक कालमें जैनधर्मका अस्तित्व न मानें, वेदोंमें जैनधर्म

को सिद्ध करने वाले बहुतसे मंत्र हैं। सारांश यह है कि इन सब प्रमाणों से जैनधर्म का उल्लेख हिंदुओं के पूज्य वेद में भी मिलता है।

विचार कीजिये एक कट्टर वेदानुयायी, वेदतीर्थ पदवी प्राप्त, बडा प्रसिद्ध विद्वान् निष्पक्ष होकर जैनधर्म के उदयकाल के विषय में कैसा स्पष्ट लिखता है। क्या इस विद्वान का लिखना भी असत्य है?

श्रीयुत ला० कन्नोमल जी एम० ए० सेशनजज धौलपुर, ला० लाजपतराय जी लिखित भारत-इतिहासमें जैनधर्म सम्बन्धी आक्षेपों के प्रतिवाद में लिखते है कि—

सभी लोग जानते हैं कि जैनधर्म के आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव स्वामी हैं, जिन का काल इतिहासपरिधि से कहीं परे है, इनका वर्णन सनातनधर्मी हिन्दुओ के श्रीमद्भागवत पुराण में भी है। ऐतिहासिक गवेषणा से मालूम हुआ हैकि जैनधर्म की उत्पत्ति का कोई काल निश्चित नहीं है। प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में जैनधर्म का हवाला मिलता है। श्री पार्श्वनाथ जी जैनों के तेईसवें तीर्थङ्कर हैं; इनका समय ईसा से १२०० वर्ष पूर्व का है, तो पाठक स्वयं विचार सकते हैं

कि ऋषभदेव जी का कितना प्राचीनकाल होगा। जैनधर्म के सिद्धान्तों की अविच्छिन्न धारा इन्हीं महात्मा के समय से बहती रही है, कोई समय ऐसा नहीं जिस में इस का अस्तित्व न हो। श्री महावीर स्वामी जैनधर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर और प्रचारक थे, न कि उसके आदि संस्थापक और प्रवर्तक।

इत्यादि और भी बहुत से अजैन विद्वानों के मत मौजूद हैं, जो कि विस्तार हो जाने के भय से नहीं दिये गये हैं। उपर्युक्त सभी महाशय अजैन होते हुए पक्के वेदानुयायी हैं किन्तु अपने सच्चे निष्पक्ष हृदय से जैनधर्म का अस्तित्व सृष्टि के प्रारम्भ समय से स्पष्ट तौर पर स्वीकार करते हैं, जिसको कि आप लोग भी किसी तरह असत्य नहीं कह सकते, फिर क्यों न कहा जाय कि स्वामी दयानन्द जी ने जैन धर्म को "वैदिकधर्म से पीछे प्रचलित हुआ" लिखकर अपने वेदों को बड़े बताने की इच्छा से बहुत भारी ऐतिहासिक भूल की है।

[१३]

अल्पज्ञाता पुरुष सर्वज्ञाता हो सकता है।

प्रियवर सज्जनो! जैनधर्म इस संसार में दो प्रकार के पदार्थ मानता है, एक जड़ और दूसरे चेतन (जीव)। जड़ पदार्थ वे हैं जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण नहीं पाये जाते हैं और चेतन पदार्थ वे हैं जिनमें कि ज्ञानादि पाये जाते हैं। अतः देखना जानना जीव का स्वभाव है। जीव का यह स्वभाव

संसारी दशामें कर्मों से आच्छादित रहने के कारण पूरे तौर से प्रगट नहीं हो पाता, किन्तु जिस समय कर्म आत्मा से बिलकुल अलग होजाते हैं, उस समय ज्ञान पूरे तौर से प्रगट होजाता है। उस समय वह जीव सर्वज्ञ यानी सब पदार्थों का जानने वाला होजाता है। जो जीव सब कर्मबन्धनों को तोड़ कर मुक्त होजाते हैं; वे समस्त लोक और तीनो काल की बातों को जानने वाले होते हैं। स्वामी जी यह कहते हैं कि सर्वज्ञ तो केवल एक परमेश्वर है; जीव भी कभी सर्वज्ञ होजाता है, ऐसा समझना भूल है। तदनुसार उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के बारहवें समुल्लास में ४४३ तथा ४५६ वें पृष्ठ पर लिखा है कि "जो अल्प और अल्पज्ञ है, वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता; क्योंकि जीव का स्वरूप एक देशी और परिमित गुणकर्म स्वभाव वाला होता है, वह सब क्रियाओं में सब प्रकार यथार्थवक्ता नहीं हो सकता। तथा जीव चाहे जैसा अपना ज्ञान, सामर्थ्य बढ़ावे तो भी उसमें परिमित ज्ञान और ससीम सामर्थ्य रहेगा; ईश्वर के समान कभी नहीं हो सकता। हाँ, जितना सामर्थ्य बढ़ाना उचित है उतना योग से बढ़ सकता है।" यद्यपि स्वामी जी ने जीवके सर्वज्ञ न हो सकने में कोई बलवान कारण

नहीं बतलाया है, जिससे कि सर्वज्ञ के विषय में जैनधर्म का मन्तव्य तिल भर भी अपने स्थान से नहीं हिलता किन्तु फिर भी स्वामी जी की इस भूलका भी हम सप्रमाण निराकरण करते हैं।

जीवमें ज्ञान-गुण विद्यमान है क्योंकि वह अन्य पदार्थों को तथा अपनेको जानता है। इसी तरह जड पदार्थ ज्ञान-शून्य हैं। इसी कारण उनका स्वभाव अपने को तथा दूसरे को जानने का नहीं है। यह नियम है कि जिस पदार्थका जो स्वभाव होता है वह उससे कभी अलग नहीं हो सकता। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता (गर्मी)। तदनुसार जीवसे उसका 'जानना' रूप स्वभाव कभी अलग नहीं हो सकता। अब विचारना यह है कि जीवका स्वभाव जबकि पदार्थों को जानने का है और पदार्थों का स्वभाव ज्ञेय यानी ज्ञान द्वारा जाना जानेका है, तब जीवको सब पदार्थ एक साथ साफ क्यों नहीं जान पड़ते ? इस बातका विचार करने से यह पता चलता है कि ज्ञानके ऊपर कोई ऐसा परदा पडा हुआ है, जो कि ज्ञानको सब पदार्थों के जानने में बाधा डालता है। जैसे कि मनुष्य के नेत्र निर्मल भी हों, किन्तु रात्रिका गाढ़ा अंधेरा हो तो नेत्र उस समय अपने देखने की शक्तिको पूरे तौरसे काममें नहीं ले सकते। यदि वही अंधेरा प्रातःकाल सरीखा कुछ कम हो यानी धुंधलापन हो तो उन्हीं नेत्रों से कुछ अधिक साफ दिखलाई देने लगता है, सूर्यका प्रकाश होजाने के समय बिलकुल साफ दीख पड़ता है। इसके सिवाय

हम यह देखते हैं कि दो विद्यार्थी साथ साथ पढ़ना शुरू करते हैं वे दोनों ही खूब परिश्रम करते हैं किन्तु उनमें से एक तो बहुत बड़ा विद्वान हो जाता है और दूसरा मूर्ख रह जाता है; ऐसा क्यों हुआ? जबकि इस बातकी खोज करते हैं, तब भी यही सिद्ध होता है कि ज्ञान को ढकने वाला कोई पदार्थ अवश्य है जो कि एक विद्यार्थी के ज्ञान को अधिक दबाए हुए है और दूसरे के ज्ञान को कुछ कम। इस तरह जबकि संसारवर्त्ती जीवों के ज्ञान को ढकने वाला कोई पदार्थ सिद्ध हुआ तो अब उसके विषय में यह विचारना है कि, वह ज्ञान को रोकने वाली चीज सजातीय (यानी जीव की) है, या विजातीय (जड़ पदार्थ)। सजातीय वस्तु किसी गुण को रोकती नहीं है, यह नियम है, जैसे अग्नि का रूप आदि कोई भी गुण उसकी गर्मी को नहीं रोक सकता, उसको रुकावट डालने वाला कोई विजातीय ठंडा पदार्थ ही हो सकता है। तदनुसार ज्ञान को रुकावट डालने वाला पदार्थ विजातीय जड ही हो सकता है, यह बात इस उदाहरण से और मजबूत हो जाती है कि शराब जो कि जड पदार्थ है, पी लेने पर जीव के ज्ञान को बिगाड कर मंद कर देती है। इस कारण सारांश यह निकला कि संसारवर्त्ती जीवों के ज्ञान को कोई जड़ पदार्थ रुकावट डालता है। उस पदार्थ का नाम जैनधर्म ने 'कर्म' रक्खा है। इसी ज्ञानरोधक कर्म के अधिक हट जाने से जीव का ज्ञान कुछ अधिक प्रगट हो जाता है और थोडा हटने से थोड़ा प्रगट होता है तथा

पूरे तौर से हट जाने पर सब पदार्थों को जानने वाला ज्ञान प्रगट हो सकता है। जैसे ग्रहण के समय सूर्य के नीचे केतु जो कि काला ग्रह है जब आ जाता है (भूगोल सिद्धान्त से सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथ्वी का आना) तब सूरज का प्रकाश बहुत ढक जाता है। यदि सूर्य के नीचे बादल आजांय तो छोटे ग्रहण की अपेक्षा सूर्य का प्रकाश कुछ कम ढकने में आता है और निर्मल आकाश के समय सूर्य का प्रकाश पूरे तौर से प्रगट होता है।

अब यहां विचारना यह है कि जो ज्ञानरोधक कर्म बीज वृक्ष सरीखी सतान की अपेक्षा जीव के साथ अनादि काल से लगा हुआ चला आया है वह कभी उसके ऊपर से बिलकुल हट भी सकता है कि नहीं? इस शंका का उत्तर हमें इस नियम के अनुसार तुरन्त मिल जाता है कि दूसरे पदार्थ की मिलावट (संयोग); योग्य मौका (अवसर) पाकर हट जाती है, वह मिलावट चाहे अनादि काल से ही क्यों न हो? जैसे कि अनादि काल से किसी खान में पत्थर के साथ मिला हुआ सोने का टुकडा पडा हुआ हो - वह टुकड़ा यदि सुनार के हाथ में पहुच जाय तो वह उस सोने से तमाम मैल मिट्टी पत्थर आदि को अलग करके सोने को खालिस बना देता है। न्याय के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि दो पदार्थो का सबन्ध **संयोग** कहलाता है, जो कि नष्ट हो सकता है, और गुण गुणी का सम्बन्ध 'समवाय' कहलाता है जो कि कभी नष्ट नहीं

होता। तदनुसार कर्म जड पदार्थ है उसका जीव के साथ सम्बन्ध है, अतः वह सम्बन्ध मौका पा कर यानी जिन राग, द्वेष आदि कारणों से कर्मों का आत्मा के साथ संयोग होता है उन कारणो के न रहने पर टूट भी सकता है। इस तरह सज्जनो! ऊपर कही हुई सब बातों का नतीजा यह निकलता है कि जीव का स्वभाव अपने ज्ञान गुण द्वारा पदार्थों को जानने का है, उस स्वभाव को पूरे तौर से प्रगट होनेमें ज्ञानरोधक कर्म बाधा (रुकावट) डालता है, जिस समय वह कर्म आत्मा से अलग हो जाता है उस समय इसी आत्मा का ज्ञान सूरज के समान समस्त पदार्थों को एक साथ प्रकट करने में (यानी जानने में) समर्थ हो जाता है और फिर वह कभी कर्म से नहीं ढक पाता क्योंकि कर्म के सयोग होने के कारण राग, द्वेष आदि नहीं रह पाते।

इस तरह भाइयो! जीव का परिमित ज्ञान भी कर्म हट जाने पर अपरिमित हो जाता है जिससे कि जीव सर्वज्ञ हो जाता है।

स्वामी जी का यद्यपि यह लिखना सत्य है कि "सर्वज्ञ ईश्वर ही होता है" क्योंकि जैनधर्म भी यही कहता है कि साधारण संसारी जीव सर्वज्ञ नहीं होते है, किन्तु जो जीव कर्मनाश करके ईश्वर होते है वे ही सर्वज्ञ होते है। परन्तु इस के साथ ही स्वामी जी का जो यह कहना है कि—

'ईश्वर एक ही है। अन्य जीव ईश्वर नहीं हो सकता'

उनका यह कथन निर्हेतुक है, क्योंकि ईश्वर या परमात्मा एक शुद्ध आत्मा का नाम है, वह एक पद (टाइटिल-ओहदा) है, किसी खास एक के लिये रजिस्टर्ड नहीं। जो योगीश्वर पवित्र तपस्या से उद्योग करता है और जिस समय उद्योग में सफलता पाकर अपने आत्मा से रागद्वेष आदि दोषोंको तथा कर्मोंको दूर हटा कर आत्मा शुद्ध बुद्ध बना लेता है वही ईश्वर हो जाता है, उसी समय उसमें ईश्वरीय गुण सर्वज्ञता प्रगट हो जाता है।

'जीव एक देशी है इस लिये उसका ज्ञान ससीम (हद लिये हुये—बाहद) है असीम (बेहद) नहीं हो सकता।' स्वामी जी का यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रश्न उठता है कि क्या जीव के ज्ञान की भी सीमा है? आजकल के प्रायः पांच फीट ऊंचे शरीरधारी मनुष्य कितनी दूर तक अपना ज्ञान फैला सकते हैं?

स्वामी जी ने ईश्वर अकेला एक ही मान कर अन्य सभी जीवों से, यहां तक कि मुक्त जीवों से भी सर्वज्ञता तो छीननी चाही, किन्तु यह खुलासा नहीं बतलाया कि ईश्वर के सिवाय अन्य जीव अमुक सीमा (हद) तक ही जान सकते हैं, इससे आगे नहीं। हम देखते हैं कि छोटे से मस्तक और ४-५ फीट ऊंचे शरीर वाले मनुष्य आकाश पाताल की सूक्ष्म २ बातें जान लेते है। घरमें बैठा हुआ वैज्ञानिक विद्वान (साइन्सदां) दुनिया

भर की छान बीन कर लेता है। फिर स्वामी जी किस आधारसे कहते है कि एक देश (असर्वव्यापी) का ज्ञान सर्वव्यापी नहीं हो सकता। क्या बहुव्यापक कार्य करने वाली शक्तियां अल्प-स्थान मे नहीं रह सकतीं? जब कि स्वल्प देशी मनुष्य बहुव्यापक स्थान का जानकार हो जाता है तब कौन सा बलवान कारण है कि जो एक देशी जीव को सर्वज्ञ होने मे रुकावट डाले?

'ईश्वर सर्वव्यापक है' यह बात प्रमाण बाधित है, क्योंकि ईश्वर यदि सर्वव्यापक होवे तो उसका प्रत्येक जीव को मानसिक प्रत्यक्ष अवश्य हो। जो ईश्वर अपने ईश्वरीय गुणों से सहित हृदय में निवास भी करे और फिर कभी मालूम भी न हो पावे यह असम्भव बात है। सर्वशक्तिमान, न्यायी, दयालु, ईश्वर यदि सर्वव्यापक होकर प्रत्येक के घट में ठहरा हुआ है तो जीवों से पापकार्य करने के विचार तथा भूलें क्यों हुआ करती है? क्या ऐसी तुच्छ बातों के सुलझाने में भी उसकी सर्वशक्तिमत्ता सफलता नहीं पाती? पाप कार्य करते समय जो जीव के हृदय में 'यह कार्य अच्छा नहीं है' ऐसी भावना प्रगट होती है उसके कारण तो राजदडभय, पंचदड का डर, अपयश, दयाभाव आदि है। इनही कारणों से पापी जीव पाप करते समय हृदय मे कांपता है। वहां आकर कुछ ईश्वर नहीं रोकता। यह तो मानसिक विचार की एक हालत है। निर्विकार ईश्वर को ऐसी बातों मे पड़ने की क्या आवश्यकता?

इस कारण ईश्वर न तो सर्वव्यापक है और न ऐसा नियम ही है कि सर्वज्ञाता सर्वव्यापक अवश्य होवे।

इस तरह ज्ञान जबकि असीम है तो वह जीवका गुण होने के कारण उस में कभी प्रगट भी हो सकता है। इस तरह से जैनधर्म ने जो जीव को सर्वज्ञ होना बतलाया है वह असत्य नहीं है, स्वामी जी जो एक ईश्वर के सिवाय अन्य किसी को सर्वज्ञ होने का निषेध करते हैं वह असत्य है। कौन ऐसा प्रबल कारण है जो कि आत्माको निर्मल न होने देकर परमात्मा बनाने से रोके? इस विषय को शान्ति और ध्यान से विचारिये।

इतना ही नहीं किन्तु स्वामी जी ने जिन सांख्यदर्शन और योगदर्शन को प्रमाण माना है वे भी आत्मा से सर्वज्ञ होना स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। देखिये सांख्यदर्शनके तीसरे अध्याय का ५६ वां सूत्र इस प्रकार है—

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता

वह (प्रधान) सर्वज्ञ और सब करने वाला हो जाता है।

योगदर्शन अध्याय ३ सूत्र १६ तथा ४८

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। १६

यानी—तीन परिणामों का संयम होजानेसे भूत भविष्यत का ज्ञान हो जाता है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४८॥

तात्पर्य—सत्त्वपुरुषकी अन्यताख्यातिके होनेसे ही समस्त

पदार्थों का अधिष्ठातापन और सर्वज्ञता हो जाती है। यानी पूर्ण भेद विज्ञान होने से सर्वज्ञता प्रगट होती है।

अब कुछ इन उदाहरणों पर भी निगाह डालिये जिन में कि स्वामी जी ने अल्पज्ञ जीवको ईश्वर तुल्य सर्वज्ञाता भी लिख दिया है।

"वैसे परमेश्वर से समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूट कर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र होजाते है।"

—सत्यार्थप्रकाश ७ वां समुल्लास १९६ पृष्ठ

स्वामी जी ने इस अपने लेखसे क्या यह सिद्ध नहीं कर दिखाया कि जीवात्मा का ज्ञानगुण परमात्मा के ज्ञानगुण सरीखा हो जाता है?

इसके आगे नवमें समुल्लासमें और भी स्पष्ट लिखते है कि "मुक्तिमें जीवात्मा निर्मल होने से पूर्णज्ञानी हो कर उसको सब सन्निहित पदार्थोंका भान यथावत् होता है।" यहां पर स्वामी जी खुलासा तौर से जीवात्मा को मुक्ति में ईश्वर समान पूर्णज्ञानी यानी सर्वज्ञानी लिखते है और जैनधर्म की समालोचना करते समय मुक्ति अवस्था में इसी सर्वज्ञता की सत्ता मेटने का अतिसाहस करते है, क्या इस से यह मालूम नहीं पडता है कि स्वामी जी बारहवां समुल्लास सोते २ लिख गये है? विचार कीजिये।

[१४]

मुक्ति-मीमांसा।

मुक्ति से भी जीव लौटता है ?

प्रेमी बान्धवो ! स्वामीजी ने जैसे जैन धर्मके अन्य विषयों की समालोचना करने मे शीघ्रता की है, उन बातों की तह पर न पहुंच कर निरंकुश रूप से समीक्षा करके भूल की है, उसी प्रकार उन्हों ने मुक्ति के विषय में भी किया है। जैन धर्म ने जो कुछ मुक्ति का स्वरूप बतलाया है, उसके कारण कलापों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। हम को खेद है, कि स्वामी जी वहां तक पहुंच गये होते तो वे फिर इस विषय में जैन सिद्धांत को असत्य कदापि न कहते।

मुक्ति के विषय में जैनधर्म का संक्षेप से यह सिद्धांत है कि इस जीव के साथ जो अनादि समय से कर्म लगे हुए है—जिन्हें अन्य कोई दर्शन प्रकृति, कोई अज्ञान, कोई माया आदि शब्दों से कहते है—वे कर्म तपस्या से यानी शरीर, पुत्र, मित्र, कलत्र आदि पदार्थों मे राग-द्वेष त्याग देने से, जिस समय आत्मा से सर्वथा अलग हो जाते है, उस समय आत्मा सोटंचा सोने के समान निर्मल हो कर अपना अविनाशी अनन्त सुख पा लेता है और सदा के लिये निर्मल हो जाता है। जिस प्रकार चांवल के ऊपर जब तक छिलका रहता है, तब तक उसमें

उगने की ताकत रहती है परन्तु जिस समय उसके ऊपर से छिलका उतर गया, कि बस, उसी समय से उसका उगना भी सदा के लिये मिट गया। ठीक यही हालत जीव की है, यानी कर्म-बन्धन छूट जाने से अब उसमे राग-द्वेष पैदा नहीं हो सकते और राग-द्वेष न होने से कर्म-बध नहीं हो सकता है। इस कारण कर्म मैल के हट जाने से शुद्ध हुआ जीव फिर कभी बन्धन मे नहीं फंसता। इसी कारण कर्मों के द्वारा होने वाला जन्म मरण भी उस शुद्ध मुक्त जीव का सदा के लिये छूट जाता है। कर्म एक विजातीय (जड जातीय) पदार्थ है इस कारण अनादि काल से जीव के साथ लगा हुआ भी छूट जाता है, जैसे कोई सोने का टुकड़ा खान मे अनादि समयसे भी पत्थर, मैल आदि से मिला पड़ा हो; किन्तु वह तमाम मैल सुनार के द्वारा अलग हो जाता है, क्योंकि वह मैल उस सोने की निजी चीज नहीं है। मुक्त दशा मे जीव शरीर रहित (सूक्ष्म) होता है, अतः वह न तो स्वयं दूसरे को रुकावट डालता है और न किसी दूसरे से रुकता है। मुक्त जीव कर्म बन्धन से छूट जाने के कारण इस संसार में न ठहरता हुआ लोक के ऊपर स्वभाव से पहुंच जाता है, उस स्थान का नाम मुक्तस्थल या सिद्ध स्थान है।

स्वामी जी ने जैनो की मानी हुई मुक्ति का ऐसा संक्षिप्त आशय भी हमारे अनुमान से अच्छी तरह नहीं समझ पाया; क्योंकि उन्हों ने बारहवें समुल्लास में बिना कुछ युक्ति दिये ही

"ये जैनी भी मुक्ति के विषय में भ्रम में फंसे हैं" यह लिख कर अपनी विजय का डङ्का अपने आप बजा कर प्रसन्नता प्रकट की है। अतः यद्यपि इस विषय में हमें विशेष कुछ प्रतिवाद करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु फिर भी उन्हों ने मुक्ति का स्वरूप समझने में भूल की है। अतः इस विषय में कुछ शब्द लिखा देना आवश्यक समझते हैं।

मित्रो! स्वामी जी ने जो कुछ मुक्ति का ढांचा सत्यार्थ प्रकाश में प्रगट किया है वह ढांचा "तीन लोक से मथुरा न्यारी" नामक कहावत को पकड़ता है, क्योंकि स्वामी जी ने मुक्ति को कर्मों का फल बता कर फिर वहां से लौट कर जन्म-मरण पाने का उल्लेख किया है। उसे कोई भी दर्शन एवं वेद उपनिषद् आदि स्वीकार नहीं करता, इतना हो तो भी कुछ बात नहीं, किन्तु साथ ही वेद भाष्यमें स्वयं स्वामी जी भी अपनी इस बात का मजूर नहीं करते हैं। हमको सबसे भारी खेद इस बात का है, कि मुक्ति को स्वामी जी ने खाने-पीने सरीखी चीज और जेलखाना समझ लिया है, जैसा कि उन्हों ने सत्यार्थ प्रकाश के नौवें समुल्लास में २५५ वें पृष्ठ पर लिखा है कि—

"कोई मनुष्य मोठा, मधुर ही खाता-पीता जाय, उसको वैसा सुख नहीं होता जैसा सब प्रकार के रसों को भोगने वाले को होता है।" तथैव "इस

लिये यही व्यवस्था ठीक है, मुक्ति में जाना वहां से पुनः आना ही अच्छा है, क्या थोड़े से कारागार (जेल) से जन्म कारागार दण्ड वाले प्राणी अथवा फांसी को कोई अच्छा मानता है? जब वहां से आना ही न हो तो जन्म-कारागार से इतना ही अन्तर है कि वहां मजूरी नहीं करनी पड़ती और ब्रह्म में लय होना समुद्र में डूब मरना है।"

प्रिय पाठको! आप यदि सच्चे हृदय से विचार करें तो आपको मालूम होगा कि स्वामी जी की ये दोनों बातें असत्य, भ्रममूलक हैं, क्योंकि सच्चे सुखकी यह परिभाषा ही नहीं कि जिसके अनुभव करने में कभी आकुलता मालूम हो। जिस जगह आकुलता रहती है, वहां असली सुख नहीं होता। जैसा कि संसारी जीवों के खाने-पीने आदिका सुख, जिसको कि नकली सुख कह सकते हैं। यदि ऐसा ही नियम हो कि सुखके अनुभव में तभी आनन्द आता है जबकि बीचमें कुछ दुख मिल जाय, तो आप लोग ईश्वरको कभी पूर्ण सुखी नहीं कह सकते क्योंकि उसका सुख कभी टूटता नहीं है। मिठाईका दृष्टान्त विषम है, क्योंकि मिठाई खाने में सुख नहीं है। यदि मिठाई खानेसे सुख अवश्य मिले ही मिले, तो एक तो उसके

खाते रहने से कभी चित्त उचटना ही नहीं चाहिये, क्योंकि सुख मे चित्त क्योंकर हटे। दूसरे यह मिठाई पेट भर खाने के पीछे या बुखार वाले मनुष्यको सुखकारी होनी चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि मिठाई में असलियत में सुख नहीं है। स्वास्थ्य ठीक रहने पर लार आदिके सयोग से कुछ देर मिठाई अच्छी लगती है, सर्वदा सबको नहीं; फिर भी न जाने स्वामी जी इसकी तुलना मुक्ति सुखके साथ कैसे कर बैठे। क्या स्वामी जी के इस कहने से यह सिद्ध नहीं होता है कि ब्रह्मचारी मनुष्यको ब्रह्मचर्य का आनन्द तभी आ सकता है जबकि वह बीचमें वेश्याओं के मकानों की हवा भी खा आया करे। विचारो तो सही मित्र लोगो! स्वामी जी मुक्तिसुखका दृष्टान्त देनेमें कितने भूले हैं।

उनकी दूसरी बातका समाधान यह है कि भाई साहिबान मुक्ति कोई जेलखाना नहीं है, जिससे कि सुख अनुभव करने के लिये निकलना आवश्यक है—**मुक्ति नाम तो बन्धन से छूटकर स्वतन्त्र होनेका है।** क्या स्वामी जी को यह बात भी मालूम नहीं थी कि स्वतन्त्र होने में आनन्द है या परवश होकर बन्धनमें पड़े रहने में? जीव सांसारिक दशामें कर्मों के बन्धन में पड़कर जन्म-मरण आदिके दुःख सहता है। जब वह बन्धन टूट कर अलग होजाता है तब हमेशाके लिये मुक्ति मिल जाती है। इस बातको आप स्वयं स्वामी जी की कलमसे ही

लिखी हुई सत्यार्थ प्रकाशके २५३ वें पृष्ठ पर देख लीजिये। वहां वे साफ लिखते हैं कि— "जो शरीर रहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्ममें रहता है उसको सांसारिक दुखका स्पर्श भी नहीं होता; किन्तु सदा आनन्दमें रहता है।" दूसरे स्थान पर खुद स्वामी जी ही लिखते हैं कि "सब दोष दुख छूट कर परमेश्वरके गुण कर्मके स्वभाव के सदृश (बराबर) पवित्र होजाते हैं।" अब मित्रो! विचार करो कि मुक्ति में जीव जबकि स्वामी जी के लिखे अनुसार सब दोष दुःखोंसे छूट कर गुण, कर्म स्वभाव मे परमेश्वर के बराबर हो जाता है, फिर उसे जन्म तक जेलखाने का दृष्टान्त कैसे मिल सकता है और उस मुक्त जीवका लौटना भी कैसे हो सकता है, क्योंकि जो जीव सब दोषों से छूट कर परमेश्वर के बराबर हो गया वह फिर क्यो बन्धन में पड़े? क्या छिलके से छूटा हुआ चांवल भी फिर उग सकता है? यदि ऐसा ही हो तो परमेश्वर को भी बन्धन में पड़ना जरूरी होगा क्योंकि उनकी बराबरी का मुक्त जीव ऐसा करे तो क्या कारण कि वह ऐसा करने के लिये बाध्य न हो? स्वामी जी सर्वशक्तिमान का बहाना लगा कर इस फन्दे से निकल नहीं सकते, क्यों कि वे खुद लिख चुके हैं कि मुक्त जीवात्मा के गुण स्वभाव परमेश्वर के बराबर हो जाते हैं। इस लिये स्वामी जी का लिखना स्वामी जी को बाधा देता है।

स्वामी जी ने मुक्ति को जो कर्मों का फल और वह ईश्वर द्वारा प्राप्त होना बतलाया है, वह भी गलत है, क्योंकि कर्मों का फल संसार का सुख दुख मिलना ही हो सकता है। जैसा कि हम अपने नेत्र द्वारा एक से एक बड़े सुखी और एक से एक बड़े दुःखी जीव देखते हैं। अतः कर्मों का फल संसार ही है, मुक्ति नहीं हो सकती। उस मुक्ति को ईश्वर नहीं दे सकता, क्योंकि प्रथम तो निर्विकार, पवित्र ईश्वर जीवों को सुख दुख देने के जंजाल से सर्वथा दूर है, जैसा कि हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं। दूसरे जब कि जीव मे स्वयं मुक्ति पाने की निजी ताकत नहीं तो ईश्वर भी उसे मुक्ति किस प्रकार दे सकता है, क्योंकि जैसे बन्ध्या स्त्री में संतान प्रसव करने की शक्ति नहीं तो बलवान पुरुष के सयोग से भी वह गर्भिणी नहीं हो सकती। जिस चांवल का छिलका हट गया है हजारों प्रयत्न करने पर भी वह नहीं उग सकता है।

इस कारण मुक्ति यानी स्वराज्य पाने की ताकत जीवमें स्वयं होनी चाहिये। उदाहरण के लिये अमेरिका का स्वराज लेना है। हाँ, इतनी बात है, कि प्रारम्भ में अपने पैरों पर खडे होने के लिये ईश्वर का ध्यान, उपासना करना जरूरी है, इसके आगे नहीं। इस कारण मुक्ति का दाता ईश्वर नहीं है किन्तु जीव का निजी बल ही उसका कारण है। जीवों को उनके कर्मों का फल स्वयं मिल जाता है, ईश्वर उसे नहीं देता है, यह बात हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं। क्या लोक में किसी राजा को

आज्ञापालन या उपासना से स्वराज्य मिल सकता है? नहीं, अपने पुरुषार्थ से ही प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार सच्चे स्वराज्य को पाने के लिये स्वामी जी ईश्वर के ऊपर क्यों निर्भर रहे? इस कारण सिद्ध होता है, कि जीव को मुक्ति परमेश्वर नहीं देता है, किन्तु जीव उसे अपने पुरुषार्थ से स्वयं प्राप्त करता है।

इसके सिवाय स्वामी जी के पास मुक्ति से लौटने की आवश्यकता सिद्ध करने वाली दो ही शंकायें रह जाती हैं। एक तो यह कि यदि जीव मुक्त होकर न लौटें, तो मुक्ति-स्थान में भीड़-भड़क्का हो जायगा और दूसरे यह कि किसी समय संसार खाली हो जायगा। प्यारे महाशयो! आप यदि कुछ समय के लिये सूक्ष्म विचार करें तो आपको मालूम पड़ेगा कि ये शंकाएं भी निर्मूल हैं। क्योंकि भीड़-भड़क्का वहीं हो सकता है जहां कि हमारे तुम्हारे शरीर सरीखा भौतिक शरीर हो। मुक्त जीवों के जब शरीर ही नहीं होता, तब उन्हें एक स्थान पर ठहरने में बाधा भी कैसे हो सकती है? क्या सारे संसार में ठसाठस जड़-परमाणुओं के भरे रहने पर भी परमेश्वर, आकाश आदि अमूर्तिक, अशरीर पदार्थ उसी जगहमें नहीं ठहरे हुये हैं। इसी तरह हजारों लाखों भी मुक्त जीव एक जगह में रहें, इसमें क्या बाधा है? स्वामी जी भीड़ होनेकी बात व्यर्थ लड़कों सरीखी बतलाते हैं।

दूसरी शङ्का का उत्तर यह है कि जीव अनत हैं। अनन्त

उस संख्याको कहते हैं कि जिसमे अनन्तका गुणा करने से भी गुणनफल अनन्त ही हो, अनन्त का भाग देने पर भी भजनफल अनन्त आवे और अनन्त जोड देने पर अनन्त ओर अनन्त घटा देने पर भी शेषफल अनन्त रहे। जैसे आकाश मे चाहे जिस दिशाको चलना शुरू किया जाय—हजारों करोडों वर्ष बराबर चलते रहने पर भी आकाशका अन्त नहीं आ सकता है क्योंकि वह अनन्त है। ईश्वर के गुणोंका वर्णन करने के लिये मनुष्य हजारों-लाखो वर्ष तक भी बराबर कार्य करते रहें, किन्तु ईश्वर के गुण समाप्त न होंगे, क्यों कि वे अनन्त हैं. अरबों वर्ष तक विचार करने पर भी जैसे जीवोंकी मौजूदगी का या पिता-पुत्रकी परम्परा का अथवा बीज वृक्षकी परम्परा का शुरुआत (प्रारम्भ) नहीं मालूम हो सकती है। दशमलव की रीति से १ के अङ्क में से $\frac{1}{100}$, $\frac{1}{1000}$ आदि संख्याओं को हजारों वर्ष तक घटाते रहने पर भी जैसे १ का अङ्क नहीं समाप्त हो सकता है, आवर्तक दशमलव का भाग कभी पूरा ही नहीं होता है। बस, इसी प्रकार सदा मुक्ति में जाते रहने पर भी संसार खाली नहीं हो सकता; क्योंकि वे जीव अनन्त हैं। अनन्त शब्द के माने ही यह हैं, कि जिस का किसी प्रकार अन्त (आखीर) न हो सके। आज दिन आप स्वामी जी की जन्मदात्री माता की अथवा अपनी माता की परम्परा को गिनने के लिये बैठिये, भविष्य काल सम्बन्धी माताओं को छोड़कर (क्योंकि गिनने के लिये आज बैठते हैं) केवल भूतकालीन मातृ-परम्परा की गणना कीजिये।

स्वामी जी की या आपकी माता आपकी नानी से उत्पन्न हुई थी, वह नानी भी माता की नानी से और वह भी आपकी नानी की नानी से उत्पन्न हुई थी, इस प्रकार गिनते चले जाइये, जो गिनती मे आ जावें उन्हें एक तरफ छोड दीजिये, इस प्रकार गिनते गिनते आप अपनी सारी आयु बिता दें, उसके आगे आपके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि भी इसी गिनती मे अपनी उम्रें खर्च करदें, किन्तु आपकी मातृ परम्परा पूर्ण नहीं हो पावेगी। क्योंकि वह अनन्त है, उसकी गणना का अन्त अनन्त काल तक गिनते रहने पर भी नहीं आ सकता है, किन्तु इस गणना से परम्परा की घटती अवश्य होती है। बस! यही बात संसारवर्ती अनन्त जीवों के लिये है। मुक्ति को जाते रहने पर संसारी जीवों की तादाद यद्यपि घटती है, किन्तु वह कभी समाप्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह अनन्त रूप है। ईश्वर की मौजूदगी अनन्त काल तक मानने का स्वामी जी तथा आर्यसमाजी लोग यही अर्थ कर सकते है, कि अरबों वर्ष बीत जाने पर भी ईश्वर का खात्मा (समाप्ति) नहीं होगा और न आज तक अनन्त वर्ष बीतने से ही ईश्वर का अभाव हुआ है। इस तरह अनन्त समय निकल जाने पर भी जब ईश्वर के अनन्त समय की समाप्ति नहीं हुई, तब मोक्ष जाते रहने पर जीवो की अनन्तता कैसे समाप्त हो सकती है। अतः स्वामी जी ने जीवों की अनन्त संख्या मान कर भी व्यर्थ ही ससार के खाली होने की शंका उठाई और व्यर्थ ही मुक्ति मे पहुंच कर पुनः लौटने का निराला सिद्धांत रच कर स्वयं भूल की

और अपने अनुयायियों को भूल में डाला । इस लिये सिद्ध होता है, कि जैन सिद्धांत में मानी हुई मुक्ति स्वामी जी की किसी भी शंका से खण्डित नहीं हो सकती।

स्वामी जी ने सभी उपनिषद् और छह दर्शन आदि को प्रमाण माना है, किन्तु उन दर्शनों और उपनिषदों द्वारा मुक्ति से लौटना विरुद्ध है। देखिये—मुण्डक उपनिषद् खं० २ मं० ८।

भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥२॥

अर्थात—अन्तरात्मा का सच्चा दर्शन हो जाने पर हृदय की समस्त गाँठें कट जाती हैं, सारे सन्देह दूर हो जाते है और इसके सभी कर्म क्षय हो जाते है।

इससे सिद्ध होता है कि मुक्ति कर्मो के क्षय होने से मिलती है न कि कर्मों के फल से, जैसा कि स्वामी जी मानते हैं। स्वामी जी इस श्लोक का अर्थ 'दुष्टकर्म क्षय होजाते हैं, ऐसा सत्यार्थप्रकाश के २६४ वें पेज पर करते है सो गलत है, क्योंकि श्लोक में "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" पद है "दुष्टकर्माणि" पद नहीं है। अतः उसका अर्थ 'दुष्टकर्मों' का क्षय होना न होकर समस्त कर्मों का क्षय होना ऐसा ही हो सकता है।

प्रश्नोपनिषद् में यह लिखा है कि—

एतस्माच्च पुनरावर्तन्ते ।

अर्थात—उस मुक्ति से फिर नहीं लौटते हैं ।

बृहदारण्यक देखिये—

तेषु ब्रह्मलोकेषु परा परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ।

यानी—उस ब्रह्मलोक मे अर्थात मोक्ष मे अनन्तकाल तक रहते है वे (मुक्तजीव) वहां से लौटते नहीं, है ।

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।

(उपनिषद् छां० प्र० ८ खण्ड १५)

यानी—जीव मुक्ति से फिर नहीं लौटता है ।

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोप्यनावृत्तिश्रुतेः । अपुरुषार्थत्वमन्यथा ।

(सांख्यदर्शन अ० ६ सूत्र १७-१८)

अर्थात्—मुक्तिजीव के फिर बन्ध नहीं होता है, क्योंकि श्रुति में यह कहा है कि जीव मुक्ति से लौटता नहीं है । जीव यदि मुक्ति से भी लौट आवे तो फिर मोक्ष के लिये पुरुषार्थ करना ही व्यर्थ हो जाय ।

व्यास विरचित शारीरिक सूत्र देखिये—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ ४।४।३३ ॥

तात्पर्य—मुक्ति से जीव लौटता नहीं है । •

इत्यादि योगदर्शन आदि अन्य दर्शनों मे भी मुक्ति से लौटने का साफ निषेध किया है । इस लिये स्वामी जी या तो वेदों को और उस के उपनिषदों तथा षट् दर्शनों को प्रमाण

मानकर मुक्ति से न लौटना मान सकते है अथवा वेद उपनिषद् षट् दर्शनों को सर्वथा छोड़ कर अपनी मुक्ति का सिद्धान्त कायम रख सकते हैं।

स्वामी जी ने मुक्ति से लौटना सिद्ध करने के वास्ते वेद की ऋचाओं का तथा सांख्यदर्शन के एक सूत्र का अनर्थ कर दिखाया है जो कि एक सत्यव्रती परिव्राजक के लिये अयोग्य बात है। ध्यान दीजिये—

सांख्यदर्शन साफ तौर से मुक्ति से लौटने का निषेध करता है, यह हमने ऊपर बतला दिया है। उसी सांख्यदर्शन के प्रथम अध्याय में १५६ वां सूत्र "इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः" जिसका कि अर्थ वेदान्त का खण्डन करते हुपे ऐसा है कि "जैसे इस समय संसार का अनेक रूप से नाश होकर एक ब्रह्म सिद्ध नहीं हुआ ऐसा किसी भी समय नहीं हो सकता है।" क्योंकि "जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।" अर्थात्— जन्म, मरण, मुक्ति आदि व्यवस्थाओं से पुरुष अनेक सिद्ध होते हैं। एक ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। इस सूत्र से लेकर १० सूत्रों में अद्वैत का खण्डन किया है। इस बात को और स्वामी जी के कुल को गुरुकुल मे पढ़कर निकले हुए विद्यालङ्कार महाशय सांख्यदर्शन से अच्छी तरह समझते होंगे। इस कारण स्वामी

जीके लिखे अनुसार "इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः" इस सांख्यसूत्र का अर्थ मुक्ति से लौटना नहीं है।

इस के सिवाय ऋग्वेद प्रथममण्डल सूक्त ३४ मन्त्र १-२ से भी मुक्ति से लौटने का अर्थ नहीं निकलता है। विचार कीजिये—

कस्य नूनं कतमस्यामृताना मनामहे चारुदेवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरञ्च दृशेयं मातरञ्च ॥ १ ॥
अग्नेर्नूनं प्रथमस्यामृतानामनामहे चारुदेवस्य नाम।
सनो मह्या आदितये पुनर्दात् पितरञ्च दृशेय मातरञ्च ॥ २ ॥

इन दोनों ऋचाओं का अर्थ ऐसा है 'हम लोक देवताओं में से किस देवता का नाम उच्चारण करें? कौनसा देवता हमको फिर भी बड़ी पृथिवी के लिये दे, जिससे हम पिता और माताओं को देखें? ॥१॥ हम देवताओं में से प्रथम ही अग्नि का नाम उच्चारण करें, वह हमको बड़ी पृथिवी के लिये दे जिस से हम अपने माता पिताओं को देखें ॥२॥"

पाठक महाशयो! दोनों ऋचाओं मे मुक्ति का कहीं भी नाम तक नहीं आया है, किन्तु स्वामी जी ने असत्यता से, छल करके "मुक्ति के सुख भुगाकर" इतना पद अपने पास से जोड दिया और अन्य सूत्रों के समान इसका अर्थ भी पलट दिया ऐसा करना सचाई नहीं है; सच्चे पुरुष का कार्य नहीं है, फरेबी पुरुष ऐसा छल करके दूसरे को धोखे मे डालते हैं। इस कारण

मुक्ति से लौटना किसी भी शास्त्र से सिद्ध नहीं होता है, बल्कि उसका निषेध प्रत्येक शास्त्र से साफ प्रकट होता है।

अब हम स्वामी जी के हाथ के लिखे हुए कुछ ऐसे नमूने रखते है जिससे आप समझ लेंगे कि स्वामी जी ने इस मुक्ति के प्रकरण में "मेरी माता बन्ध्या है" इसके कहने का साहस किया है, क्योंकि वे सत्यार्थप्रकाश में मुक्ति से लौटना लिख कर अन्यत्र कुछ और ही लिखते है। जैसा कि—

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका—पृष्ठ १६१ पर—

"जैसे सोने को अग्नि मे तपा के निर्मल कर देते है, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभ गुणों के रूप से आचरण कर देना।"

यानी मुक्ति के लिये तप द्वारा सोटंको सोने के समान समस्त कर्ममलो से निर्मल बनाया जाता है।

१८७ वें पेज पर—

"अर्थात्—सब दोषो से छूट के परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते है, जहां कि पूर्ण पुरुष सबमे भरपूर सबसे सूक्ष्म अर्थात् अविनाशी और जिसमें हानि लाभ कभी नहीं होता ऐसे परमपद को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं।"

पृष्ठ १९२ पर—

"जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ-गुण प्राप्त

होते हैं तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त होता है।"

"जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है तब कैवल्यमोक्ष धर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फंसता जाता है, तब तक उसको मुक्ति प्राप्त होना असंभव है।"

स्वामी जी के इन लेखों से साफ सिद्ध होता है कि सब बन्धन टूट जाने पर ही मोक्ष होती है कर्मबन्धन के रहते हुए नहीं। फिर स्वामी जी ने कर्मों का फल मुक्ति प्राप्त होना और मुक्त जीवों के कर्मबन्धन क्यों माना? इस शङ्का का उत्तर आप स्वामी जी से पूछिये।

तथा यजुर्वेद अध्याय ३१ मन्त्र २ का स्वामी जी कृत भाष्य देखिये :—

हे मनुष्यो! जो उत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होने वाला और जो पृथिवी आदि के सम्बन्ध से बढ़ता है, उस इस प्रत्यक्ष परोक्षरूप समस्त जगत को अविनाशी मोक्ष सुख कारण का अधिष्ठाता सत्य गुण कर्म, स्वभावों से परिपूर्ण परमात्मा हो सकता है।'

प्रिय सज्जनो ! इस मन्त्र के अर्थ में स्वामी जी ने स्वयं अविनाशी सुख आदि विशेषण देकर परमात्मपद यानी मोक्ष होना लिखा है। अब यह बतलाइये कि स्वामी जी की कौन सी बात सत्य समझी जाय। यदि इस वेदमन्त्र के अर्थ तथा उपर्युक्त ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका को मान कर मुक्ति को अविनाशी माना जाय तो सत्यार्थ प्रकाश का मुक्ति से लौटना नामक मत गलत ठहरता है। यदि उसे सत्य मानते हैं तो ये तमाम उपनिषद; दर्शन ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका तथा उपर्युक्त ऋग्वेद का मन्त्र आदि असत्य ठहरते हैं। आपके हृदय मे जैसा साहस हो वैसा कहकर एक को सत्य कहिये और दूसरे को असत्य; किन्तु हैं दोनों स्वामी जी के लेख।

जब कि स्वामी दयानन्द जी तथा उनके अनुयायी आर्य समाजी विद्वान् मुक्त जीवों का संसार में फिर लौट आ कर जन्म मरण होना मानते हैं तब वेद तथा वेदांग ग्रन्थ इस बात का स्पष्ट निषेध करते हैं। इस विषय में निरुक्त १४३ वें पृष्ठ पर (सं० १९२० में अजमेर से प्रकाशित) बतलाता है कि—

"अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुदगयनमुदगयनाद् देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं वैद्युतान् मानसं मानसः पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसम्भवन्ति ते न पुनरावर्तन्ते। शिष्टा दन्दशूका यत इदं न जानन्ति तस्मादिदं वेदितव्यम्।"

इस का भावार्थ पं० राजाराम जी प्रोफेसर डी० ए० वी० कालेज लाहौर ने सन् १९२४ में लाहौर से प्रकाशित निरुक्त के ५८२ वें पृष्ठ पर यों किया है—

"और जो हिंसा को त्याग विद्या का आश्रय ले बड़ा तप तपते हैं या ज्ञानकांडोक्त कर्म करते है, वह अर्चि (ज्वाला) को प्राप्त होते हैं अर्चि से दिन को, दिनसे शुक्ल पक्ष को, शुक्लपक्षसे उत्तरायण को, उत्तरायण से देवलोक को, देवलोक से सूर्य को, सूर्य से विद्युत् को, विद्युत् से मानस (लोक) को, मानस पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं वह फिर नहीं लौटते हैं। शेष (दोनों भागों से भ्रष्ट) दन्दशूक (सर्प आदि) होते हैं, क्योंकि वह इसको नहीं जानते। इस लिये इसको जानना चाहिये।"

इस प्रकार निरुक्त जो कि वेद के समान प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है वह स्पष्ट कहता है कि जो अहिंसा रूप से तपस्या करते हैं वे क्रम से ऊंचे पद पाते हुए मुक्ति पा लेते हैं मुक्ति पाकर वे फिर वापिस नहीं लौटते।

अब मुक्त जीव संसार मे लौटकर नहीं आता है इसके लिये हम कुछ वेदो के प्रमाण देते हैं—

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ १३७-१३८ (छठा एडीशन)

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवाः ॥१६॥

भावार्थ—विद्वानों को देव कहते हैं ...... जो २ ईश्वर की उपासना करने वाले लोग हैं वे २ सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं जहां विद्वान लोग परम पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त हो के नित्य आनन्द में रहते हैं उसी को मोक्ष कहते हैं। क्योंकि उस से निवृत्त होके संसारके दुखोंमें. कभी नहीं गिरते। इस अर्थ में निरुक्तकारका भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वरके अनन्त प्रकाशमें मोक्षको प्राप्त हुए हैं वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं; उन को अज्ञान-रूप अन्धकार कभी नहीं होता।

इस मन्त्र के भावार्थ में तथा संस्कृत अर्थ में भी. स्वयं स्वामीजी साफ लिखते हैं जीव मुक्ति से फिर कभी संसार के दुखों में नहीं आता। और भी देखिये—

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ १३९-१४०

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१८॥

सं० अर्थ— किं विदित्वा त्वं, ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यते....
.. . मनुष्यस्तमेवं पुरुषं परमात्मानं विदित्वा ऽतिमृत्युं

मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यमानन्द-मेति प्राप्नोति।

भावार्थ—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है ?... ...क्योंकि उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्ममरण आदिके क्लेशों के समुद्रसमान दुःख-से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है।

यह मन्त्र भी स्वामी जी के मुख से स्पष्ट कह रहा है कि मोक्ष पाकर जीव फिर जन्मता मरता नहीं है—संसार में नहीं आता है। और देखिये—

'प्रजापतिश्चरति' इत्यादि १६ वें मन्त्र के भावार्थ मे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के १४१ वें पृष्ठ पर लिखा है—

'जो प्रजा का पति · ····उसी परमेश्वर मे ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चयसे मोक्षसुखको प्राप्त होके जन्म मरण आदि आने जानेसे छूटके आनन्द में सदा रहते हैं।'

यह लेख स्वामी जी के मुक्ति से वापिस लौट आने वाले मत को अच्छी तरह काट देता है पता नहीं अपने मुख से परस्पर विरोधी दो बातें कहकर स्वामी जी अपने अनुयायी आर्यसमाज को भ्रम में क्यो डाल गये ?

महर्षि कपिल ने अपने सांख्यदर्शन के प्रथम सूत्र में मोक्ष का लक्षण ऐसा लिखा है—

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।१।

अर्थात्—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीन प्रकारके दुखों का अत्यन्त यानी अन्तरहित (अनन्त-बिलकुल) नाश हो जाना सो मोक्ष है ।

श्री अनिरुद्धभट्ट ने इस सूत्र की वृत्ति में लिखा है ।—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां पुरुषार्थत्वं, न तु तत्राद्यानां त्रयाणामत्यन्तत्वं, क्षयित्वाद्विषयजसुखत्वाच्च । मोक्षस्य च न तथा, नित्यत्वात् प्रकाशरूपत्वाच्च । अत उक्तमत्यन्तपुरुषार्थ इति।"

अर्थात—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ होते हैं । इनमें से पहले के तीन अत्यन्त यानी अन्तरहित (अनन्त, बे अखीर, बे इन्तिहा) नहीं होते, क्योंकि वे अनित्य हैं नष्ट हो जाते हैं तथा विषयजनितसुखरूप होने से भी वे अनित्य है । किन्तु मोक्ष वैसी नहीं । क्योंकि मोक्ष नित्य है यानी सदा रहती है, कभी नष्ट नहीं होती है, सदा प्रकाशरूप होती है । इस लिये मोक्ष को अत्यन्त यानी अन्तरहित अनन्त (जिसका कभी अन्त न आवे) पुरुषार्थ कहा है ।

इस प्रकार सांख्यदर्शन मुक्ति को नित्य कहता है, जन्म,

मरण आदि दुःखों से हमेशा के लिये बिलकुल छूट जाना बतलाता है। फिर बतलाइये सांख्यदर्शन को प्रमाण मानते हुए स्वामी जी मुक्ति को अनित्य कहकर उससे वापिस लौटना क्योंकर कह सकते हैं।

न्याय दर्शन का प्रमाण देते हुए स्वामी जी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के १९६-१९८ वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तद-नन्तरापायादपवर्गः । १ । बाधनालक्षणं दुःखमिति । २ । तद-त्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः । ३ । न्यायदर्शन अ० १ आन्हिक १ सू० २-२१-२२ ।

भावार्थ—अब मुक्ति विषय में गोतमाचार्य के कहे हुए न्यायशास्त्र के प्रमाण लिखते हैं। "जब मिथ्याज्ञान अर्थात अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके पीछे (प्रवृत्ति०) अर्थात अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाती है। उसके नाश होने से (जन्म) अर्थात फिर जन्म नहीं होता। उसके न होनेसे सब दुःखों का अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात सब दिन के लिये पर-मात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रह जाता है इसी का नाम मोक्ष है ।१। सब प्रकार की बाधा अर्थात इच्छा विघात और परतन्त्रता का

नाम दुख है। २। फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानन्द प्राप्त होता है उसी सूख का नाम मोक्ष है।

इस प्रकार गोतमाचार्य के न्यायदर्शन का प्रमाण देते हुए भी स्वामी जी मुक्ति से पुनरागमन का (वापिस लौटने का) निषेध करते हैं। 'जन्म मरण का नाश होने पर ही मुक्ति होती है' ऐसा स्पष्ट लिखकर स्वामी जी यदि अपने ही मुख से सत्यार्थप्रकाश में मुक्ति से वापिस लौटने का समर्थन करें तो समझना चाहिये कि उनके लिखने का कुछ भी मूल्य नहीं परस्पर विरुद्ध होने से सत्यार्थप्रकाश बिलकुल 'असत्यार्थ-प्रकाश' ठहरता है।

ऋग्वेद मं० १ सू० २४ मंत्र १-२ 'कस्य नूनं कतमस्य' आदि का अर्थ करते हुए जो स्वामी दयानन्द जी ने मुक्ति से वापिस लौटने की खेंच तान की है वह भी असत्य है। क्योंकि वह अर्थ वहां असगत बैठता है। इसके सिवाय सभी प्राचीन भाष्यों के विरुद्ध स्वामी जी का वह अर्थ है, इस कारण निरा-धार होने के कारण असत्य है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी इस अर्थका खंडन करते हैं। इस कारण सिद्ध होता है कि वेदमन्त्र मुक्ति से वापिस लौटने के विरुद्ध है। देखिये उपर्युक्त जिन दो मन्त्रो

से स्वामी जी जीवों का मुक्ति से वापिस लौटना सिद्ध करते हैं उन मन्त्रों का अर्थ ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार है।

'सोऽसिनिःशानरायापाथइशुनःशेप ईक्षांचक्रेऽमानुषमिववैमाविशसिष्यन्ति हन्ताहं देवता उपाधावामीति सप्रजापतिमेव प्रथम देवतानामुपससार 'कस्य नूनं कतमस्यामृताना' मित्येतयर्चा तं प्रजापतिरुवाचाऽग्निर्वै देवानां नेदिष्ठस्तमेवोपधावेति। सोऽग्निमुपससार 'अग्नेवयं प्रथमस्यामृताना' मित्येतयर्चा तमग्निरुवाचेत्यादि।'

अर्थात—अजीगर्त जब खम्भ से बन्धे हुए शुनःशेप के पास तलवार को पैनी करके आया तब शुनःशेप ने विचारा कि पशु की तरह मुझको यह मारेगा मैं इस समय देवताओं की आराधना करूं। यह विचार कर प्रथम ही प्रजापति की शरण हुआ। 'कस्य नूनं' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण किया। तब प्रजापति ने शुनःशेप को बताया कि देवताओं में अग्नि ही मुख्य है, इस लिये अग्नि का स्मरण कर। तब वह शुनःशेप 'अग्नेर्वयं प्रथमास्यामृतानां' इत्यादि दूसरे मन्त्र से अग्नि की प्रार्थना करने लगा। तब अग्नि ने कहा कि सविता की आराधना करो।

यानी—अजीगर्त द्वारा होने वाले अपने प्राणनाश को जानकर शुनःशेप ने इस विचार से कि मुझे इस आपत्ति से

कौन छुडा देगा ? जिससे मैं यहां से छूट कर अपने माता पिता के दर्शन करू पहले प्रजापति को, फिर अग्नि की और फिर सविता की प्रार्थना की (अन्त मे उसे छुटकारा भी मिल गया था), यह भाव इन दोनों मन्त्रो का है। जिसको कि तोड फोड कर स्वामी जी मुक्त जीवों के लिये लौटने के अर्थ मे लगाकर गडबड गुटाला करते है।

आर्यसमाजी बतलावें कि ऐतरेय ब्राह्मण का यह अर्थ ठीक है या नहीं ? यदि है तो स्वामीजी का लिखना गलत हुआ, अन्यथा यह बतलाइये कि किस प्रमाण से, किस कारण से क्यों ऐतरेय ब्राह्मण सरीखे प्राचीन ग्रन्थ का अर्थ गलत है और स्वामी जी का अर्थ ठीक है ?

मुक्ति से वापिस लौटने के खण्डन में आर्यसमाजी भाइयों को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिये।

१—किसी साख्य आदि दर्शन ने मुक्ति से लौटना नहीं स्वीकार किया। सांख्यदर्शन आदि षट्दर्शन ग्रन्थों की प्राचीन टीकायें देखिये। सभी दर्शन मुक्ति से लौटने का खण्डन करते है। स्वामी दयानन्द जी से पहले की किसी भी टीका या मूल ग्रन्थ मे मुक्ति से लौटने का समर्थन नहीं मिलेगा।

२—ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में स्वामी जी ने मुक्ति विषय मे कहीं भी मुक्ति से लौटने का समर्थन नहीं किया, बल्कि मुक्ति में सदा रहने का ही समर्थन किया है।

३-मुक्ति में जीव कब तक ठहरता है इस को बतलाने वाला कोई भी वेदमन्त्र नहीं है।

४-जब संसार में जन्म लेने वाले कारणों का नाश हो जाने से मुक्ति होती है, तब फिर क्या कारण है जो जीव मुक्ति से लौटकर संसार में जन्म लें ?

५-ससार में जीव 'अनन्त' हैं। अनन्त शब्द का अर्थ स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के १५ वें पृष्ठ पर 'जिस का अन्त अवधि न हो वह अनन्त है' ऐसा किया है। इस कारण मुक्ति से न लौटने पर भी ससार जीव-शून्य नहीं हो सकता।

६-'कस्य नून' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ प्राचीन भाष्यों से, ब्राह्मणग्रन्थों से स्वामी जी का बतलाया हुआ मुक्ति से लौटने रूप अर्थ विरुद्ध ठहरता है; इस कारण स्वामी जी का अर्थ गलत है।

७-स्वामी जी पहले समस्त दर्शनकारों के मतानुसार मुक्ति से वापिस लोट आना नहीं मानते थे, इसी कारण उन्हों ने पहले लिखे हुए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में तथा यजुर्वेदभाष्य में कहीं भी मुक्ति से लौटने का समर्थन नहीं किया जोकि कम से कम ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के मुक्ति विषय में अवश्य करना था, किन्तु किसी एक मुसलमान मौलवी को उत्तर न दे सकने के कारण उनने अपना विचार पलट लिया जिस से कि उस के पीछे लिखे हुए सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदभाष्य में (ऋग्वेद

भाष्य पूर्ण नहीं कर पाये थे) मुक्ति से लौटने का सिद्धान्त अटक-लपच्चू लगाकर लिख गये ।

इस कारण आप इस लेख को सच्चे हृदयसे पढ़ कर विचार कीजिये कि मुक्ति का सिद्धान्त जैनों का अटल है अथवा स्वामी जी का ।

[१५]

वेदों को ईश्वरीय ग्रंथ समझना भूल है

सत्यप्रिय, विचारशील महाशयो ! अब हम एक ऐसे विषय में उतर रहे हैं जो कि आप लोगों के सामने नवीन प्रकाश फैलावेगा । इस प्रकाश का फैलाना मुझे कई कारणों से आवश्यक दीखता है, जिस में कि मुख्य कारण यह है कि स्वामी जी ने वेदों को अमान्य ठहराने के कारण जैनधर्म को नास्तिक लिख डाला है । जैनधर्म को समालोचना करते समय जैसे उन्होंने अन्य विषयों में बहुत भारी गलती की है, उसी प्रकार इस विषय में भी उन्हों ने स्वयं गलती की है, सो तो ठीक ही है, किन्तु साथ ही आर्यसंसार को, वेदों को ईश्वर-प्रणीत बतला कर, धोखे में भी डाल दिया है । स्वामी जी का कर्तव्य था कि उन्हो ने जैसे और असत्य पोपलीला की पोल खोली थी, उसी तरह वेदों के विषय में भी अपने सच्चे हृदय से खुलासा प्रगट करते । किन्तु ऐसा न करते हुए उन्हों ने इस कहावत को चरितार्थ किया कि "दूसरे के नेत्र की फूली दीखती

है किन्तु अपना टंट नज़र नहीं आता है"। अत: वेद ईश्वरकृत है या नहीं ? जैनधर्म ने उन्हें न मान कर बुद्धिमानी की या नहीं ? इत्यादि बातों का खुलासा आपके सामने रख देना आवश्यक ही नहीं किन्तु बहुत उपयोगी है। इस लिये इस विषय को प्रारम्भ किया जाता है, आप इसे प्रेम के साथ अवलोकन करें।

तदनुसार प्रथम ही हम इस विषय का विचार करते हैं कि वेद ईश्वर रचित है या नहीं ?

वेदों को ईश्वर ने बनाया है, इस बात का उल्लेख स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश मे कई जगह किया है। जैसे कि सातवें समुल्लास के २१२ वें पृष्ठ पर विद्यमान है कि "जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है वह सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है।" अब विचार कीजिये कि स्वामी जी का यह लिखना कहां तक सत्य है।

जो वेद आज कल हम लोगों को दिख रहे हैं वे यदि स्वामी जी के लिखे अनुसार ईश्वर ने रचे हैं तो उनकी रचना तीन प्रकार से हो सकती है—एक तो ऐसे कि ईश्वर ने स्वयं कलम दवात लेकर वेदों को लिख डाला हो और फिर उसकी

नकल करके अन्य २ ऋषियों ने बहुत कापी करली हों। दूसरे इस तरह कि ईश्वर बोलता गया हो और कोई पढ़ा लिखा हुआ मनुष्य उसे लिखता गया हो। जैसे कि बहुत से रईस लोग अथवा अन्धे पुरुष या टोंटे मनुष्य यानी जिनका हाथ बेकाम होता है किया करते हैं। अथवा तीसरा प्रकार यह भी है कि ईश्वर लोगों के हृदय में या कान में वेद सुना गया हो और उन लोगों ने अन्य लोगों को हित पहुंचाने के विचार से स्वयं पुस्तक रूप में लिखकर तैयार कर दिया हो। महाशयो! इन तीन मार्गों के सिवाय और कोई चौथा मार्ग नहीं दीखता है कि जिसके सहारे से ईश्वर ने वेद रच कर तयार कर दिये हों।

इन में से पहले मार्ग से तो वेदों का बनना असम्भव है क्योंकि जिस ईश्वर को स्वामी जी ने सर्वव्यापक और निराकार माना है, उसके हाथ कहां से आ सकते हैं? और हाथों के बिना वह स्वयं लिख भी कैसे सकता है? इसके सिवाय मुख्य बात यह है कि स्वयं स्वामी जी ने भी ईश्वर द्वारा वेदों की उत्पत्ति इस प्रकार नहीं मानी है।

दूसरा मार्ग भी वेदों की रचनामें बाधा डालता है, क्यों कि ईश्वर निराकार है उसके जब मुख और जीभ ही नहीं तब वह स्वयं बोलकर वेदों को लिखा भी कैसे सकता है? तथा स्वामी जी भी ऐसा नहीं मानते हैं।

अब तीसरे पक्षकी भी परीक्षा कीजिये, क्योंकि स्वामी जी खुलासा रूप से तो नहीं, किन्तु गोलमाल तौर से वेदों की

रचना इसी प्रकार स्वीकार करते हैं जैसा कि सातवें समुल्लास में २१२ वें पृष्ठ पर उन्हों ने लिखा भी है कि "प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियों की आत्मा में एक एक वेद का प्रकाश किया।" प्रथम तो ईश्वर जब सर्वव्यापक है तब उस में उपदेश देने रूप हलन चलन क्रिया का होना असम्भव है। दूसरे यदि कुछ देर के लिये ऐसा भी मान लिया जाय तो, वह क्रिया भी सर्वव्यापक ईश्वर के सर्वव्यापिनी ही होगी। फिर ऐसी अवस्था में सृष्टि के प्रारम्भ मे सभी जीव जब कि अशिक्षित अज्ञानी रहते है तो वह ईश्वर का सर्वव्यापी उपदेश सब जीवों के हृदय में पहुंचना चाहिये, जिस से कि सभी जीव वेदरचना कर सकें। ऐसा न होकर केवल एक एक वेद का प्रकाश क्यों कर हुआ? क्योंकि सर्वव्यापक ईश्वर की क्रिया एक देशी नहीं हो सकती है।

दूसरी बात यह भी है कि ईश्वर ने स्वामी जी के लिखे अनुसार अग्नि आदि चार ऋषियों को उपदेश दिया था। फिर उन ऋषियो ने उपदेश अन्य को दिया, उस ने वैसे उपदेश से दूसरों को पढ़ाया। इस प्रकार परम्परा चलते चलते जब स्मरणशक्ति क्षीण होने लगी तब उन्होंने उन उपदेशों को अक्षर-रूप में लिख डाला जो कि आज दिन हमारे सामने मौजूद है।

क्योंकि लिपिलेखन का प्रचार इतिहास द्वारा बहुत प्राचीन सिद्ध नहीं होता। ऐसा न होकर यदि अग्नि आदि ऋषियोंने ही उसे लिख डाला हो तो भी न्याया-नुसार वह लिखा हुआ वेद नामक ग्रन्थ ईश्वर-प्रणीत कह कर ईश्वर के ज्ञानकी हीनता तथा हास्यजनक नमूना तो नहीं बतलाना चाहिये क्योंकि जैसे स्वामी विरजानन्द जी से पढ़े हुए होने पर भी स्वामी दयानन्द जी द्वारा बनी हुई सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकें जब स्वामी दयानन्द जी कृत ही कही जाती हैं—स्वामी जी ने कहीं भी उनके ऊपर विरजानन्द जी की छाप नहीं लगाई है—, तब फिर ऋषियों द्वारा लिखे गये वेद भी ऋषिरचित ही हो सकते हैं। इन्हें ईश्वरप्रणीत कहना अन्याय करना, सत्य को छिपाना और लोगों को धोखा देना है। स्वामी जी की इस सत्य बात को विचारिये कि, वेद ईश्वरने स्वयं अपने हाथों से लिखे नहीं, खुद बोल कर दूसरे से लिखवाये नहीं; किन्तु उसने केवल चार ऋषियों के हृदय में चार प्रकार का उपदेश ही टपका दिया, जिसके सहारे से उन ऋषियों ने अपनी बुद्धि के अनुसार यजुर्वेद ऋग्वेद आदि नाम रख

कर पुस्तकें लिख डालीं फिर भी स्वामी जी उन पुस्तकों को ईश्वर प्रणीत कहते हैं। "उन ऋषियों ने ईश्वर के उपदेशानुसार ही ठीक जैसे के तैसे वेद अक्षर रूप में लिख डाले थे" इस बात का स्वामी जी के पास क्या प्रमाण है? वे ऋषि भी तो आखिर असर्वज्ञ संसारी मनुष्य ही थे, ईश्वरकी अपेक्षा अल्पज्ञानी थे, रागी द्वेषी उनका आत्मा था, फिर उन्हों ने अपने ज्ञानकी कमी से या कदाचित बुद्धिप्रखरता से तथा राग के निमित्त से अथवा द्वेष के आधार से उस ईश्वर के उपदेश को अक्षररूप में कम, अधिक या कुछ का कुछ क्यों न लिख डाला होगा? क्योंकि ऐसा हुआ ही करता है कि गुरू अपने शिष्य को कुछ समझाता है किन्तु शिष्य अपनी बुद्धि और मन्तव्यानुसार पुस्तकों मे कुछ का कुछ लिख डालता है। क्या स्वामी दयानन्द जी को विरजानन्द जी ने जो कुछ पढ़ाया था, उन्हों ने ठीक वही ज्यों का त्यों अपनी पुस्तकों में लिख दिया है, इसको स्वामी जी बतला सकते हैं?

इस लिये मित्रो! वेदों के बनाने वाले (लिखने वाले) थे तो ऋषि जैसा कि स्वामी जी के लेख से प्रगट होता है और हो भी सकता है, क्योंकि पुस्तक मनुष्य ही लिख सकता है, किन्तु इस सत्य बात को छिपा कर स्वामी जी ने ईश्वर को उन का रचने वाला बतला दिया।

स्वामी जी इसी बात को प्रश्न-उत्तर के रूप में सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास के २१२ वें पृष्ठ पर यों लिखते हैं—

(प्रश्न) "(ईश्वर) जब निराकार है तो वेद विद्या का का उपदेश विना मुख के वर्णोच्चारण कैसे होसका होगा। क्योंकि वर्णोच्चारण में ताल्वादि स्थान जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिये।" इसके उत्तर में स्वामी जी लिखते है—(उत्तर) "परमेश्वर को सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेदविद्या के उपदेश करने में मुखादिक की कुछ भी अपेक्षा नहीं क्योंकि मुख जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न के बोध के लिये किया जाता है कुछ अपने लिये नहीं। क्योंकि मुख जिह्वाके व्यापार करे विना ही मनमें अनेक, व्यवहारों का विचार शब्दोच्चारण होता रहता है। कानों को अंगुलियों से मूंद के देखो और सुनो कि विना मुख जिह्वा ताल्वादि स्थानों के कैसे शब्द हो रहे हैं। वैसे ही जीवों को अन्तर्यामी रूप से उपदेश किया है, किन्तु केवल दूसरे को समझाने के लिये उच्चारण करने की आवश्य-

कता है। जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है तो अपनी अखिल वेदविद्या का उपदेश जीवस्थ रूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है। फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरे को सुनाता है, इस लिये ईश्वर में यह दोष नहीं आ सकता।"

प्रिय सज्जन महाशयो! विचार कीजिये कि स्वामी जी कैसी अच्छी गोलमाल युक्ति देकर अपने ऊपर से भार उतारते हैं, वे कहते हैं कि ईश्वर को जीवों के लिये उपदेश देने के लिये मुखादिक की जरूरत नहीं है। मानो ईश्वर जब जड पदार्थों को उपदेश देगा तब मुख की आवश्यकता होगी, जीवों के लिये नहीं। पुनः लिखते हैं कि वर्णोच्चारण अपने से दूसरे मनुष्य के लिये किया जाता है, तो क्या ईश्वर ने जो कुछ वेदों का उपदेश किया वह स्वयं अपने लिये ही कहा? स्वयं वक्ता और स्वयं श्रोता (सुनने वाला) बना? जिस से कि उसे वर्णोच्चारण की आवश्यकता नहीं हुई? क्या तमाशा है कुछ समझ में नहीं आता। सर्वशक्तिमान् ईश्वर से बहाना लगाकर स्वामी जी ने चाहे जो कुछ कर लिया है। प्रमाण से ईश्वर अनन्तशक्तिमान तो हो सकता है किन्तु 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु' की शक्ति का धारक यानी चाहे जैसा कुछ करने की शक्तिवाला ईश्वर नहीं

हो सकता है। क्योंकि प्राकृतिक बातों को पलटाने की शक्ति किसी में भी होना असम्भव है, इस को स्वयं स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश में स्वीकार किया है। हम स्वामी जी के उपर्युक्त उत्तर का अक्षरशः, शब्दशः प्रतिवाद करके व्यर्थ ही आपका समय नहीं लेना चाहते। आप स्वयं उसे विचार कर देखें कि स्वामी जी ने कितना निर्बल और बनावटी उत्तर देकर प्रश्न को टालना चाहा है अतः हम इस बात को यहीं छोड़ कर आगे बढ़ते हैं।

वेद ऋषियों द्वारा रचे हुए ही हैं उन का रचयिता ईश्वर नहीं है, इस बात को हम ऊपर युक्तिपूर्वक सिद्ध कर आए हैं। अब इसी बात को सिद्ध करने के लिए हम वेदों का ही प्रमाण आप के सामने पेश करते हैं, आप कदाचित् हमारी दलील पर उतना अधिक विचार न भी करेंगे जितना कि वेदों के प्रमाणों पर ध्यान दौड़ावेंगे। अस्तु

स्वामी जी के लेखका आधार लेकर तथा और कोई रास्ता न देखकर यदि कोई आर्यभ्राता अपना कड़ा जी करके वेदों को ऋषि प्रणीत कहने का साहस करे तो मेरी समझमें वह वेदों के रचयिता—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा, इन चार ऋषियों को कह सकेगा, किन्तु हम कहते हैं कि वेदों के रचयिता चार-छह ऋषि नहीं, किन्तु सैकड़ों ऋषि हैं। किसी ऋषिने १० तो किसीने २०, तीसरे ने ४० इत्यादि मन्त्र बना कर रख दिये हैं, किसी ने अपने मन्त्रों में कुछ मनोरथ दिखलाया तो दूसरे ने कुछ, इस प्रकार वेद एक बहुत बड़े चिट्ठे का नाम होगया। जिसमें

शक्ति अनुसार प्रत्येक ऋषि कुछ २ मन्त्र बना कर रखता गया, आगे जब कि किसी ऋषिने इस चिट्ठे को पूरा हुआ समझ लिया—तब उसने सबको इकट्ठा करके संहिता विशेषण लगा कर उन मन्त्रों को पुस्तक रूपमें खड़ा कर दिया। इस प्रकार वेद बन पाये तो सैकड़ों वर्षों में, किन्तु स्वामी जी ने लिख दिया यह कि, परमात्माने सृष्टि की आदि मे वेदों को चट तैयार कर दिया। इतने बडे ग्रन्थको बनाने मे उन्हे १०-५ दिन भी नहीं लगे। ठीक तो है, सर्वशक्तिमान ईश्वर इतना भी न कर सके तो फिर ईश्वर ही क्या रहे? किन्तु मित्रो! खेद है कि स्वामी जी की बातको स्वयं वेद ही असत्य कह रहे हैं, आप वेदोंको हाथ मे उठाकर चाहे जिस सूक्त या मन्त्र को देख लीजिये, आपको उस मन्त्र के तथा सूक्त के ऊपर उसके रचयिता ऋषि का नाम अवश्य दीख पडेगा। अब कुछ समय के लिये यही विवरण अपनी निगाह से निकालिये—

प्रिय मित्रो! चारों वेदों में सब से प्रथम ऋग्वेद बन कर तैयार हुआ था। इसका प्रारम्भ मधुच्छन्दस् ऋषि ने जो कि विश्वामित्र ऋषि का पुत्र था किया है। प्रथम विश्वामित्र रामचन्द्र, लक्ष्मण के जमाने में हुए हैं अतः वेदों की रचना लगभग रामचन्द्र जी के समय से प्रारम्भ हुई है, ऐसा अनुमान होता है। इस ऋग्वेद की समाप्ति अघमर्षण नामक ऋषि ने की है। ऋग्वेद के प्रारम्भ मे लिखा है कि—

अथादिमस्य नवर्चस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्नि-

देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।

यानी—इस पहले ६ ऋचाओं वाले सूक्त का बनाने वाला मधुच्छन्दस् ऋषि है। इस सूक्त का देवता अग्नि है, इसमें गायत्री छन्द और षड्ज स्वर है।

ऋग्वेद में जो गीत (भजन) हैं उनका नाम सूक्त है। उन सूक्तों की एक एक कली को ऋचा कहते हैं, इन ऋचाओं के समुदाय रूप सूक्तों का संग्रह होनेसे ही वेदका नाम ऋग्वेद है। सब से पहले बनकर यही तयार हुआ है। इसके पीछे इसी के आधार से यजुर्वेद बनाया गया है। सामवेद तो प्रायः ऋग्वेद के उन गीतों का समूह है जोकि गाने योग्य समझे गये हैं। चौथा जो अथर्ववेद है वह इन तीनों वेदों से बहुत पीछे बना है। मनुस्मृति आदि अनेक ग्रन्थों में इसका नाम नहीं पाया जाता। ऐसा मालूम होता है कि अथर्ववेद भोज राजा के भी पीछे बना है, क्योंकि भोज राजाके समयमें बने हुए अमरकोष में भी केवल तीन वेदों का ही नाम आया है। जैसे—प्रथमकांड शब्दादि वर्ग श्लोक, ३ में लिखा है—

श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयो धर्मस्तु तद्विधिः।
स्त्रियामृक्सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी॥

अर्थात—श्रुति, वेद, आम्नाय और त्रयी ये नाम वेद के हैं। वेद विहित विधिको धर्म कहते हैं। ऋक, साम, यजुः इन तीन वेदों को त्रयी कहते हैं।

इस से सिद्ध होता है कि अथर्ववेद आधुनिक है, क्योंकि उसका नाम इस कोष में भी नहीं पाया जाता है। अस्तु।

ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त पर तथा यजुर्वेद आदि के प्रत्येक मन्त्र पर प्रारम्भ में चार बातें लिखी हुई हैं। १—इस मन्त्र या सूक्त का बनाने वाला अमुक ऋषि है। २—इसका देवता अमुक है, जिसकी कि उसमें पूजा, प्रार्थना आदि की गई है। ३—इस मन्त्र या सूक्त का अमुक छन्द है और चौथे इसको गाने का स्वर अमुक है।

ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में ऊपर चारों बातें बतला दी हैं। इस सूक्त का रचयिता मधुच्छन्दस् ऋषि है, इसके पिता का नाम विश्वामित्र और पुत्र का जेतृ (जेता) था। विश्वामित्र के पिता का नाम गाधी था और इस गाधी का पिता 'कुशिक' था, इसी के नाम पर इसकी वंश परम्परा की संज्ञा 'कौशिक' हुई है। 'कौशिक' नाम इसी कारण से विश्वामित्रका दूसरा नाम है। इस तरह कुशिक, मधुच्छन्दस् ऋषिका प्रपितामह था। इन पाँचों ऋषियों ने अनेक मन्त्र रचे हैं। इस कारण यह मालूम होता है कि इस घरानेका यह काम होगा कि प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ वेदमन्त्र अवश्य तैयार करे। मधुच्छन्दस् के पुत्र जेता ने ऋग्वेद का केवल ११ वां सूक्त ही बनाया है।

दूसरे सूक्त पर ऐसा लिखा है—

अथ नवर्चस्य द्वितीयसूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः।

अर्थात्—जो ऋचावाले दूसरे सूक्त को रचयिता मधुच्छन्दस् ऋषि है।

इस प्रकार १० वें सूक्त तक इसी मधुच्छन्दस् ऋषि का नाम लिखा हुआ है। उस के आगे ११ वें सूक्त पर माधुच्छन्दस् यानी मधुच्छन्दस् का पुत्र जेता ऋषि का नाम है। तदनन्तर—

अथ द्वादशर्चस्य द्वादशसूक्तस्य काण्वो मेधातिथिः ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।

यानी—इस १२ ऋचाओं वाले बारहवें सूक्त का अन्मदाता कण्व ऋषि का पुत्र मेधातिथि ऋषि है। इस सूक्त में देवता अग्नि, छन्द गायत्री और स्वर षड्ज है।

इस प्रकार २३ वें सूक्त तक इसी मेधातिथि ऋषि का नाम पड़ता गया है, उस के आगे २४ वें सूक्त पर यों लिखा है—

अथास्य पञ्चदशर्चस्य चतुर्विंशस्य सूक्तस्य आजीगर्ति शुनःशेपः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातिऋषिः। प्रजापति अग्निः सविता भगो वा वरुणश्च देवताः। त्रिष्टुप् गायत्री छन्दः। धैवतः षड्जश्च स्वरौ।

भावार्थ—इस १५ ऋचाओं वाले चौबीसवें सूक्त के कर्ता अजीगर्त ऋषिका पुत्र शुनःशेप, विश्वामित्र का कृत्रिम पुत्र देवरति ऋषि है। प्रजापति, अग्नि, भग, सविता और वरुण देवता हैं। छन्द त्रिष्टुप् गायत्री और स्वर धैवत तथा षड्ज हैं।

यह शुनःशेप यद्यपि अजीगर्त ऋषिका पुत्र था, किन्तु १०० गायों को लेकर अजीगर्त ने इसे हरिश्चन्द्र राजा को नरमेध यज्ञ (जिस में मनुष्य मार हवन किया जाय) के लिये दे दिया था तदनुसार शुनःशेप को यज्ञभूमि में खम्भे से बांध दिया गया था, फिर जिस समय इस को यज्ञ में हवन करने के लिये मारने को उठे तब इस ने विश्वामित्र ऋषि के कहे अनुसार अग्नि आदि देवताओं से प्रार्थना की, तब इस का बन्धन टूट गया और यह बेचारा वैदिक धर्म के आदर्शयज्ञ नरमेध में हवन होने से बचा। फिर विश्वामित्र ने इस का नाम देवरात रख कर अपने पुत्र समान माना। यह कथा ऐत्रेय ब्राह्मण में जिसको स्वामीजी भी प्रमाण मानते है लिखी हुई है। इस कारण स्वामी जी ने भी प्रसिद्धि के अनुसार इस के आजीगर्ति (अजीगर्त का पुत्र) शुनःशेप (हवन मे बध होने तक का नाम) कृत्रिम वैश्वामित्र यानी बनावटी विश्वामित्र का पुत्र और देवरात जो कि हवन में बध होने से बचकर पीछे रक्खा गया था, ये चारों नाम इस सूक्त पर लगा दिये है। इस नरमेधयज्ञ की सूचक अनेक ऋचायें, मन्त्र विद्यमान है।

इस के आगे—

अथैकविंशत्यृचस्य पञ्चविंशस्य सूक्तस्याजीगर्तिः शुनःशेप ऋषिः। वरुणो देवता। गायत्री छन्दः। षड्ज स्वरः।

यानी—इस २१ ऋचा (मन्त्र) वाले पच्चीसवें सूक्त का

बनाने वाला अजीगर्त का पुत्र शुनःशेप ऋषि है। देवता वरुण, छन्द गायत्री और स्वर षड्ज है।

इस शुनःशेप ऋषि का नाम ३० वें सूक्त तक चला गया है, इस के आगे ३१ वां-३२ वां सूक्त अङ्गिराके पुत्र हिरण्यस्तूपने बनाया है। जिसका उल्लेख यों है—

अथाष्टादशर्चस्यैकत्रिंशत्तमस्य सूक्तस्याङ्गिरसो हिरण्यस्तूपऋषिः। अग्निर्देवता।

अर्थात—इस अठारह ऋचावाले इकतीसवें सूक्त का रचयिता आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि है। देवता अग्नि है। इस के आगे घोरपुत्र कण्वऋषि, प्रस्कण्व, सव्य, गौतम नोधा, पराशर, राहुगणपुत्र, गोतम, कुत्स, अम्बरीश, ऋज्र, सहदेव, भयमान, सुराधस्, कक्षीवान, मयोभू, वायु, गृत्समद, भारद्वाज सिंधुद्वीप, विश्वमना, चित्र, तित्र, उत्कील, विश्वामित्र, आत्रेय, सोमाहुति, विरूप, वारुणि, जमदग्नि, नाभानेदि, वत्सप्री, श्यावाश्व, तापस, वशिष्ठ, दीर्घतमस्, कुमारहारित इत्यादि सैकड़ों ऋषियों के नाम अपने २ सूक्त पर उल्लिखित होते गये हैं, जिस से कि स्वतः सिद्ध होता है कि सैकड़ों ऋषियों के बनाये हुये मन्त्रो के संग्रह का नाम ऋग्वेद है। अब कुछ यजुर्वेद का नमूना भी देखिये—

ग्यारहवें अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है।-

युञ्जान इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। सविता देवता।

अर्थ—युञ्जान इत्यादि ८३ मन्त्र वाले इस ११ वें अध्याय का बनाने वाला प्रजापति ऋषि है। सविता देवता है।

इसके आगे १२ वें अध्याय पर—

दृशानं इत्यस्य वत्सप्री ऋषिः। अग्निर्देवता।

अर्थ— दृशान इत्यादि ११७ मन्त्र वाले इस बारहवें अध्यायका रचने वाला वत्सप्री ऋषि है। देवता अग्नि है।

तदनन्तर तेरहवें अध्याय पर—

तत्र मयिगृह्णामीत्याद्यस्य वत्सार ऋषिः। अग्निर्देवता।

भावार्थ— मयिगृह्णामि इत्यादि के रचयिता वत्सार ऋषि है। देवता अग्नि है।

पुनः चौदहवें अध्याय पर—

ध्रुवक्षितिरित्यस्योशना ऋषिः। अश्विनौ देवते।

तात्पर्य—, इस ध्रुवक्षिति इत्यादि मन्त्रका बनाने वाला उशनस् ऋषि है। अग्नि, वायु देवता है।

पश्चात् पन्द्रहवें अध्याय पर यों लिखा है।

अग्ने जातानित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्छन्दः धैवतः स्वरः।

सार—अग्ने जातान् इत्यादि मन्त्रका रचने वाला परमेष्ठी ऋषि है। इसका देवता अग्नि, छन्द त्रिष्टुप् और स्वर धैवत है।

इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र पर भिषक्, विश्वदेव, वामदेव, अप्रतिरथ, कौण्डिन्य, वैखानस, हेमवर्चि, शङ्ख, विधृति, लोपमुद्रा

देव, वरुण आदि ऋषियों के नाम अंकित । इस कारण सिद्ध होता है कि सैकड़ों ऋषियों के परिश्रम से रचे हुये मन्त्रों के समूहका नाम ही 'यजुर्वेद' है।

वेदमन्त्रों के ऊपर इस प्रकार अङ्कित हुये ऋषियों के नामों को देखकर यह स्वयं सुगमता से सिद्ध होजाता है कि यह मन्त्र अमुक ऋषिने बनाकर तयार किया है, किन्तु सनातन धर्मावलम्बी विद्वान तथा स्वामी जी बनावटी कारणों को बतला कर इस बातका निराकरण करते है जो कि इस प्रकार है—कुछ सनातनी विद्वान कहते हैं कि ब्रह्माजी ने अपने चार मुखों से चार वेद उत्पन्न किये थे। एक बार उन वेदों को रख कर ब्रह्मा जी कहीं गये थे कि इतने में एक दैत्य ने उनको नष्ट करने के लिये वेदों को समुद्र में डाल दिया और आप स्वयं एक बड़ा मत्स्य बन कर पाताल में चला गया। फिर क्या था, उस समय इस जगत में जितने भी ऋषि थे वे मछलियां बन कर समुद्र में कूद पड़े; सो उन वेदों के बिखरे हुये पत्रो को मुखमें दबा दबा कर किनारे पर ले आये। इस प्रकार जिस ऋषिने जितने पत्र निकाले उतने पत्रों के मन्त्रों पर उस ऋषिका नाम ब्रह्मा जी ने लिख दिया। अतः वे ऋषि उन वेद मन्त्रों के रक्षक हैं, विधाता नहीं है। यह उत्तर तो गपोड़ों का एक बड़ा भाई है। अतः इस विषय में विचार चलाना व्यर्थ है।

स्वामी जी इस विवरण का उत्तर यों देते है कि पहले जमाने में हर एक राजा अपने २ नगर में बालकों को पढ़ाने के लिये अनेक पाठशालायें खोलता था। उसमें पढ़ाने के लिये जो

अध्यापक होते थे, उनको वेदों मे से कुछ २ हिस्सा दे दिया जाता था कि सिर्फ इतने भागको ही पढ़ाओ, इस प्रकार प्रत्येक को अलग २ प्रकरण खूब विचारने और पढ़ाने के लिये सुपुर्द किया जाता था। वे अध्यापक उन नियत मन्त्रों का अर्थ खूब समझते, विचारते, मनन करते रहते थे। जिस विद्वान ऋषिने जिस मन्त्र का अर्थ सबसे अधिक समझा, उसीका नाम उस मन्त्र पर डाल दिया गया। इस प्रकार उन विद्वानो का नाम मन्त्रो के ऊपर उल्लिखित है।" ऐसा ही उत्तर हम वृन्दावन तथा कांगडी गुरुकुल मे २०-२० वर्ष अध्ययन किये हुये विद्यालङ्कारो से भी सुन चुके है। इससे अधिक मजबूत प्रामाणिक उत्तर उनके पास कुछ नहीं है। अब विचारिये यह उत्तर कितना निर्बल और बनावटी है।

पुस्तकों के ऊपर उसके लिखने वाले का नाम तो जरूर रहता है जैसा कि मनुस्मृति, महाभारत, उपनिषद् आदि ग्रन्थो पर मौजूद है। सत्यार्थ प्रकाश पर स्वामी जी का नाम लिखा हुआ है अब तक इन ग्रन्थों को हजारों मनुष्यो ने खूब समझा, विचारा, तथा मनन किया होगा किन्तु हम देखते है कि सिवाय ग्रन्थ-लेखक के नामके उन पर अन्य किसी का भी नाम अङ्कित नहीं है और न हमे अभी तक किसी इतिहास से ऐसा मालूम ही हुआ है कि पहले जमाने में ऐसा नियम था कि जो जिस पुस्तक को समझ ले, वह उस पुस्तक पर पुस्तक लेखक का नाम हटा कर अपना लिख देवे। वेद मन्त्रों पर उल्लिखित नाम वाले

कतिपय ऋषियों के बनाये हुये अन्य ग्रंथ भी हैं जिन पर कि मू
ग्रन्थकार का ही नाम है। फिर न मालूम स्वामी जी यह हेतुव
पचड़ा किस आधार से लगाते हैं और गुरुकुल में बीस २ व
अध्ययन करके आर्य विद्वान ऐसे निर्बल असत्य हेतुओं पर कु
भी विचार नहीं करते। दूसरे जिन ऋषियोंका नाम वेदमन्त्र
पर लिखा हुआ है, उन ऋषियो के जीवनकाल में सैकड़ों वर्षों
अन्तर है। कोई रामचन्द्र जी के समयका है तो कोई महाभारत
समयका है। फिर पाठशालाओं के समय सकड़ों वर्षके आगे पी
वाले ऋषि उन पाठशालाओं में पढ़ाने कैसे आगये? और जि
मन्त्रों पर एक ऋषि ने मनन किया, क्या हजारों वर्षके ज़माने
उन मन्त्रोंका विशेष अर्थ किसी और ऋषि ने नहीं समझ पाया
जिससे एक मन्त्र पर अनेक नाम लिखे जाते? तथा विश्वामित्र
पाराशर, वशिष्ठ आदि सरीखे प्रख्यात विद्वान ऋषि समस्त वेद
के मन्त्रों को नहीं समझ पाये थे? कुछ मन्त्रों को ही समझ पा
थे? यदि उन्होंने सम्पूर्ण वेद मन्त्रोंको समझ लिया था तो उ
का नाम समस्त मन्त्रो पर क्यों नहीं लिखा गया? कतिपय मन्त्र
पर ही क्यों? यदि सम्पूर्ण वेदमन्त्रों को किसी भी ऋषि ने नहीं
समझ पाया था तो फिर वेदों के भाष्य और उपनिषद् ब्राह्मण
आदि किस प्रकार बन गये? एवं वेदोंके मन्त्रोंका यथार्थ सारांश
तो स्वामी जी ने समझा था, फिर उन्हों ने समस्त मन्त्रों पर
अपना नाम भी क्यों न जड़ दिया? इत्यादि रूपसे आप लोग
यदि विचार करें तो आपको ज्ञान पड़ेगा कि यह सब असत्य

बनावटी झोंपड़ा है; जो कि विचारों के सामने तितर बितर हो जाता है।

इसके सिवा अनेक वेदमन्त्र स्वयं पुकार २ कर स्वामी जी के कथनका खंडन कर रहे हैं। उदाहरण के लिये प्रथम कुछ ऐसे मन्त्र आपके सामने रक्खे जाते हैं जिनके अन्दर ऋषियों के नाम उल्लिखित हैं। जैसा कि 'कविताकार आप अपनी कविता में अपना नाम रख दिया करते हैं'।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के ३१ वें सूक्त की पहली ऋचा देखिये—

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिव सखा।
तव व्रते कवयो विमनापसोजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥१॥

इस ऋचा के ऊपर भी आङ्गिरस (आङ्गिरा के पुत्र) ऋषि का नाम उल्लिखित है तथा मन्त्र में भी उसके पिता अङ्गिरा ऋषि का नाम साफ तौर से रक्खा हुआ है। स्वामी जी ने इस अङ्गिरा शब्द का अर्थ खेंच तान कर "ब्रह्माण्ड के पृथिवी आदि के हस्त-पाद आदि अङ्गों के रूप अर्थात् अन्तर्यामी" किया है।

प्रथम मण्डल के ३६ वें सूत्र की १० वीं ऋचा देखिये, इस सूत्र के ऊपर कण्व ऋषि का नाम है। तथैव इस ऋचा में भी इस ऋषि का नाम लिखा हुआ है—

यंत्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन।

यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः ॥ १०

इस ऋचा में कण्व तथा मेधातिथि ऋषि का नाम मौजूद है। कण्व ऋषि का मेधातिथि पुत्र था। इस कारण कण्व ने इस मन्त्र में अपने पुत्र का भी नाम रख दिया।

(ऋग्वेद प्रथम मण्डल सूक्त २४ ऋ० १३)

शुनःशेपोह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रु पदेषु बद्धः।
अवैनं राजा वरुणः सृज्याद्विद्वां अदब्धो विमुमोक्तु
पाशान् ॥

यानी—जो शुनःशेप पकड़ा हुआ खम्भों से बंधा था, उसने आदित्य देवता का आह्वान किया कि मुझे वरुण देवता छोड़ देवे।

खेद है कि स्पष्ट अर्थ को स्वामी जी ने अंधेरे में रख कर मनमाना अर्थ लिख मारा है।

(प्रथम मण्डल सूक्त १०५ ऋचा १७)

त्रितःकूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नं हूरणादुरुवित्तं मे अस्य
रोदसी ॥

अभिप्राय—कुए में पड़े हुए त्रित ऋषि ने देवों को अपनी रक्षा के लिये बुलाया। वह प्रार्थना बृहस्पति ने सुनी और उसे कुंए से निकाला।

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए भी स्वामी जी ने कुछ का कुछ मतलब लिख दिखाया है। अस्तु! विद्यालङ्कार पद प्राप्त

आर्य विद्वानो ! क्या आप लोगो ने वेदों की तथा संस्कृत भाषा आदि की विद्वत्ता स्वामी जी की झूठी लकीर के फकीर होने के लिये प्राप्त की है ? यदि लकीर के फकीर होने के लिये नहीं तो फिर ऐसे स्पष्ट अर्थ सूचक मन्त्रों का सत्य अर्थ प्रकाशित करने मे भी आपकी लेखनी क्यों कांपती है।

प्रथम मंडल के ७८ वें सूक्त की पहली दूसरी ऋचा को देखिये—

अभित्वा गोतमो गिरा जातवेदो विचर्षणे।
द्युम्नैरभि प्रणोनुमः ॥ १ ॥
तमुत्वा गोतमो गिरा रायस्कामो दुवस्यति।
द्युम्नैरभि प्रणोनुमः ॥ २ ॥

इन दोनों ऋचाओं मे इस सूत्र के रचयिता गोतम ऋषि का नाम है।

इसी प्रथम मण्डल के १०० वें सूत्र की १७ वीं ऋचा का निरीक्षण कीजिये—

एतत्त्यत्त इन्द्र वृष्ण उक्थं वार्षागिरा अभिगृणन्ति राधः।
ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः
सुराधाः ॥ १७ ॥

इस सूक्त के बनाने वाले महाराज वृषागिर के पुत्र भूत (वार्षागिर) ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान, सुराधा

नामक ऋषि है, उन्हीं ६ ऋषियों के नाम का उल्लेख इस ऋचा में है।

यह १०० वां सूक्त महाराज वृषागिर के ऋज्राश्व, अम्बरीष आदि ५ पुत्रों ने मिल कर बनाया है। उन्हीं का नाम इस ऋचा में आया है। सबो ने मिल कर इन्द्र के लिये भजन गाया है।

इस प्रकार सैकड़ों वेद मन्त्र है जिनमें कि अनेक ऋषियों के नाम साफ तौर से दर्ज हैं। ऐसा क्यों हुआ? क्या परमेश्वर ने यह समझ कर कि अमुक मन्त्र का अर्थ अमुक ऋषि को ही अच्छी तरह से खुलेगा, इस लिये उसका नाम अभी से इस मन्त्र मे रख देना चाहिये? वास्तव में बात तो यह है कि वेद मन्त्रों के रचयिता ऋषियों ने जिस प्रकार होनहार स्वामी जी के ऊपर अनुग्रह विचार कर मन्त्रों की रचना की, स्वामी जी ने उस प्रकार उनके प्रति कृतज्ञता नहीं दिखलाई।

इसके सिवाय वेदों के ऋषि प्रणोत होने का सब से अधिक सबल प्रमाण यह है कि जिस यजुर्वेद के ब्राह्मण को स्वामी जी ने वेदों के समान प्रमाण माना है, उसी तैत्तरीय ब्राह्मण (यजुर्वेद का भाष्य) के २२ वें मन्त्र में साफ लिखा है कि "मैं उन ऋषियों को धन्यवाद देता हूं जिन्होंने वेदों को बनाया है।" दूसरे स्थान में लिखा

है कि मैं उन ऋषियों को धन्यवाद देता हूं जिन्हों ने वेदों को माना अर्थात् उनका अभ्यास और विश्वास किया।" ऐसा ही और भी अनेक स्थानोंमें लिखा है कि "वे ऋषि जिन्होंने वेदों को बनाया और जिन्होंने वेदों को माना, सदाकाल मेरी ओर लगे रहें"। इसी तरह—"मैं उन ऋषियों को जिन्होंने वेदों को बनाया और जिन्होंने माना नहीं छोड़ूंगा।

कहिये महाशयो! वेदों के ऋषिप्रणीत होने में आप को अब भी कुछ सन्देह रह जाता है? मेरी समझ में अब आप वेदों को ईश्वर रचित लिखने में स्वामी जी को अवश्य असत्य ठहरावेंगे। यदि इतने पर भी आप सत्य बोलने के लिये शायद तैयार न हों, तो वेद मन्त्रों के कुछ और नमूने अवलोकन कीजिये जिनके अर्थ को पढ़ कर आप अवश्य स्वयं बोल उठेंगे कि अवश्य ही स्वामी जी ने वेदों को ईश्वर-प्रणीत बतला कर जनता के सामने भारी असत्य बोला है। यद्यपि वेद मन्त्रों का असली अभिप्राय सायणाचार्य, महीधर आदि ने अपने अपने भाष्यों में किया है, उन्होंने, खुले दिल से निःशंक होकर जैसे का तैसा अर्थ किया है; किन्तु स्वामी जी ने उन्हीं के भाष्यों से मन्त्रों का अर्थ समझ कर वेदों पर प्रगट होने वाले अनुचित लांछनों

से बचाने के लिये हर तरह प्रयत्न किया है। अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्र, आदि देवता वाचक शब्दों को तोड़-मरोड़ कर सभी जगह परमात्मा अर्थ कर दिया है और वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये तमाम, विज्ञान, गणित आदि की छाप लगा कर उन पर कलई की है किन्तु वह ठहरी तो कलई ही न, कहां तक छिप सकती है? स्थान स्थान पर स्वामी जी के वचन को वेही बनावटी भाष्य रूपी कलई असत्य ठहरा रही है। अस्तु—हमें खूब मालूम है कि हमारे आर्य-समाजी भाई स्वामी दयानन्द जी के सिवा अन्य किसी को सत्य लेखक विद्वान नहीं समझते हैं। इस कारण हम भी आपके सामने स्वामी जी द्वारा किये हुये भाष्य का कुछ नमूना उपस्थित करते हैं।

प्रथम ही ऋग्वेद भाष्य का नमूना देखिये कि स्वामी जी का ईश्वर लोगों से क्या मांग रहा है—

(प्रथम मण्डल सूक्त १६१ चौथी ऋचा पृ० ७५४)

हे बहुत पदार्थों के देने वाले! आप तो हमारे लिये अतीव बलवती दक्षिणा के साथ दान जैसे दिया जाय वैसे दान को तथा इस दुग्धादि धन को दीजिये, जिस से आप की तथा पवन की भी जो स्तुति करने वाली हैं वे मधुर उत्तम दूध के भरे हुए स्तन के समान चाहती और अन्नादिकों के साथ बछड़ों को पिलाती हैं।

(सातवां मण्डल ३० सूक्त ऋचा ४ पृ० ३८६)

हम लोग आपकी प्रशंसा करें, आप हम लोगों के लिये धनों को देओ।

(सातवां मण्डल सूक्त ३७ ऋचा ५ पृ० ५३२)

हे सद्गुण ओर हरणशील घोड़ों वाले! हम लोग आप के जिन पदार्थों को मागते हैं उनको आश्चर्य है, आप हम लोगों के लिये कब देओगे।

(चौथा मण्डल सूक्त ३२ ऋचा १८-१६ पृष्ठ १३०८ व १३०६)

हे धन के ईश! आपका धन हम लोगों में प्राप्त हो और आपकी गोके हजारो और सैकड़ों समूह को हम लोग प्राप्त होवें।

हे शत्रुओं के नाश करने वाले! जिससे आप बहुतो के देने वाले हो. इससे आपके सुवर्ण के बने हुए घड़ों के देश सख्या युक्त समूह को हम लोग प्राप्त होवें।

(पंचम मण्डल छठा सूक्त ७ वीं ऋचा पृ० १७४४)

हे दाता—स्तुति करने वालो के लिये अन्न को अच्छे प्रकार धारण कीजिये।

(पांचवा मण्डल सूक्त ६१ ऋचा ६)

वेदार्थ के जानने वाले हम लोगो को गौओ के पीने योग्य दुग्ध आदि में नहीं निरादर करिये।

(प्रथम मण्डल सूक्त ५७ ऋचा ५ पृ० १०६६)

हे सेनादि बल वाले सभाध्यक्ष! आप इस स्तुति कर्ताओं

कामना को परिपूर्ण करें। इत्यादि अनेक ऋचाएं।

महाशयो! ईश्वर किस प्रकार से याचना कर रहा है इस बात पर गौर देकर विचार कीजिये, क्योंकि इन्हीं मन्त्रों का बनाने वाला स्वामी जी के मतानुसार ईश्वर है।

अब ऋग्वेद में शृंगार रस का भी कुछ नमूना अवलोकन कीजिये कि ईश्वर कैसा विचित्र रसीला है—

(प्रथम मण्डल १२४ सूक्त १० वीं ऋचा पृ० ३८)

हे कामना करनेहारी कुमारी! जो तू शरीर से कन्या के समान वर्तमान व्यवहारों में अति तेजी दिखाती हुई, अत्यन्त संग करते हुए विद्वान पति को प्राप्त होती और सम्मुख अनेक प्रकार सद्गुणों से प्रकाशमान जवानी को प्राप्त हुई मन्द मन्द हंसती हुई छाती आदि अङ्गों को प्रसिद्ध करती है, सो तू प्रभात वेला की उपमा को प्राप्त होती है।

(प्रथम मण्डल सूक्त १७९ ऋचा ४ पृ० ८५६)

इधर से वा उत्तर से वा कहीं से सब ओर से प्रसिद्ध वीर्य रोकने वा अव्यक्त शब्द करने वाले वृषभ (बैल) आदि का काम मुझ को प्राप्त होता है अर्थात उनके सदृश कामदेव उत्पन्न होता है और धीरज से रहित वा लोप हो जाना लुकि जाना ही प्रतीति का चिन्ह है जिसका, सो यह स्त्री वीर्यवान, धीरज युक्त श्वासें लेने हुये अर्थात शयनादि दशा में निमग्न पुरुष को निरन्तर प्राप्त होती और उससे गमन भी करती है।

बस यह नमूना इतना ही बहुत है क्योंकि अभी आपको बहुत से नमूने देखने है, किन्तु आप यहां इतना तो विचार कीजिए कि ऐसी रंगीली बातों को ईश्वर ने लिखा है ?

अब ज़रा अग्नि की प्रशंसा सुनिये—

(तीसरा मण्डल सूक्त २६ ऋचा २)

जिन्हों ने अग्नि उत्तम प्रकार धारण किया उन पुरुषों को भाग्यशाली जानना चाहिये—

(तीसरा मण्डल सूक्त २६ ऋचा ५)

जो मनुष्य मथकर अग्निको उत्पन्न करके कार्यों को सिद्ध करने की इच्छा करते है। वे सम्पूर्ण ऐश्वर्य युक्त होते हैं।

(पञ्चम मण्डल सूक्त ३ ऋचा ४ पृ० १६६३)

अग्निको विस्तारते हुये विद्वान मनुष्य चिल्ला कर उसका उपदेश दे रहे है, वे मृत्युरहित पदवी को प्राप्त होवें—

(प्रथम मण्डल सूक्त १४८ ऋचा १ पृ० ३६६)

विद्वान जन मनुष्य सम्बन्धिनी प्रजाओ मे सूर्यके समान अद्भुत और रूपके लिये विशेषता मे भावना करने वाले जिस अग्निको सब ओरसे निरन्तर धारण करते हैं, उस अग्निको तुम लोग धारण करो।

(मण्डल ७ सूक्त १५ ऋचा ६ पृ० १७६)

हे मनुष्यो ! वह अत्यन्त यज्ञकर्ता देने योग्य पदार्थों को प्राप्त होने वाला पावक अग्नि हमारी इस शुद्धि-क्रिया को और प्राणियों को प्राप्त हो, उसको तुम लोग सेवन करो।

इत्यादि बहुत सी ऋचाओं द्वारा अग्नि की प्रशंसा करके वेद के पत्र रंगे गये हैं। विचार कीजिये कि यह अग्नि की प्रशंसा अग्नि देवता की स्तुति में ऋषियों ने लिखी है? अथवा ईश्वर के उपदेश का यह नमूना है?

अब मैं ऋग्वेद के कुछ नमूनों को और दिखा कर यजुर्वेद आपके सामने लाऊंगा। स्वामी जी ने वेदों का रचयिता ईश्वर बतलाया है। अब आप देखिये कि वह मंत्रों में किस प्रकार बोलता है—

(सातवां मंडल सूक्त २६ ऋचा ४ पृष्ठ ३७६)

आप हमारे पिता के समान उत्तम बुद्धि वाले हैं।

(प्रथम मंडल ११४ वां सूक्त ७ वीं ऋचा, पृष्ठ १६७२)

हे सभापति! हम लोगों में से बुड्ढे वा पढ़े लिखे मनुष्यों को मत मारो और हमारे बालक को मत मारो, हमारे जवानों को मत मारो, हमारे गर्भों को मत मारो, हमारे पिता को मत मारो, माता और स्त्री को मत मारो और अन्यायकारी दुष्टों को मारो।

मालूम पडता है कि स्वामी जी इन वेद मंत्रों का अर्थ सोते सोते कर गये हैं; क्योंकि, जो ईश्वर विचारा निरञ्जन निर्विकार है उस के पुत्र, स्त्री कहां से आये? और कदाचित् स्वामी जी के ईश्वर के पास महादेव के समान पुत्र, स्त्री भी मान लें तो फिर उस के साथी बुड्ढे पढ़े लिखे मनुष्य तथा माता पिता कहां से आगये। जिन की कि जीवनरक्षा वह

सभापति से चाहता है। स्वामी जी कृपा करके कह जावें तो ठीक हो, वेद ईश्वर ने ही बनाये हैं, इस बात का क्या बढ़िया उदाहरण है !

(सप्तम मण्डल सूक्त ५५ ऋचा ५-८पृ० ६७६-६७७)

जो मनुष्य जैसे मेरे घर मे मेरी माता सब ओर से सोवे, पिता सोवे, कुत्ता सोवे, प्रजापति सोवे, सब सम्बन्धी सब ओर से सोवें, यह उत्तम विद्वान् सोवे वैसे तुम्हारे घर में भी सोवें।

हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग जो अतीव सब प्रकार उत्तम सुखों की प्राप्ति कराने वाली घर मे सोती वा जो पलङ्ग पर सोने वाली उत्तम स्त्री विवाहित तथा जिन का शुद्ध गंध हो उन सबों को हम लोग उत्तम घरों में सुलावें वैसे तुम भी उत्तम घरों में सुलाओ।

कहिये ! परमेश्वर सोने के लिये कैसी अच्छी तयारी बतलाता है। यहां यह नहीं मालूम पडा कि ईश्वर का घर किस दिशा मे, कहां बना हुआ है, जिस में वह अपने माता पिता, कुटुम्बी तथा चौकसी के लिये कुत्तों को भी सुलाता है। अच्छा होता कि स्वामी जी इन बातों को भी खुलासा कर जाते। इसी ऋग्वेद में सोमरस पीने-पिलाने के सम्बन्ध में सैकडो ऋचाएं लिखी हैं। यह सोमरस या तो मदिरा था उस से कुछ तेज अथवा मन्द नशीला रस होता होगा, ऐसे इस सोमरस को पीने पिलाने से क्या हित सोचा? सो भी स्वामी जी

जानते होंगे। सैकड़ों ऋचाओं में युद्ध का विवरण आया है, जिनमें कि "शत्रुओं को यों मार, बन को ऐसे जला, शत्रुओं का धन हमारे पास आ जाय, उन के घर अग्नि और वायु न रहे, उनके पशु हमारे यहां आ जाय।" इत्यादि स्त्रियों में आपसी लड़ाई के समय निकली हुई गालियों के समान बातों के सिवाय विशेष कोई भी व्यूहरचना, शस्त्र-परिचालन आदि युद्ध नीति नहीं है, उसे भी स्वामी जी के मतानुसार ईश्वर ही कहता है। जिस ईश्वर ने सृष्टि रची, उसी ने युद्ध करके दूसरों को मारने के भी उपाय बताये; निर्विकार पवित्र ईश्वर के लिये कैसा अच्छा निर्मल आभूषण है! इसी प्रकार कहीं सूर्य की, कहीं नदी की, तो कहीं राजा की, कहीं बादलों की प्रशंसा करने में बीसों मन्त्र ऋग्वेद में भरे हुए हैं, जिन का नमूना दिखलाने में भी लाचार है, क्योंकि अभी अन्य वेदों के भी बहुत से नमूने रखने हैं। अतः अब ऋग्वेद को कुछ देर के लिये बन्द करके यजुर्वेद के दर्शनार्थ आइये—

प्रथम ही कतिपय असम्बद्ध (बे सिलसिलेवार) वाक्यों वाले मन्त्रों को देखिये—(यहां से यजुर्वेद के मन्त्र दिखलाये हैं)

(यजुर्वेद अध्याय २५ मन्त्र ७ पृ० ६७६)

हे मनुष्यो! तुम मांगने से पुष्टि करने को गुदेन्द्रिय के साथ वर्तमान अन्धे सांपों को गुदेन्द्रिय के साथ। वर्तमान विशेष कुटिल सांपों को आंतों से जलों को, नाभि के नीचे के भाग से

अण्डकोष को, आण्डों से घोडों को, लिंग और वीर्य से सन्तान को पित्त से भोजनों को, पेट के अङ्गों को गुदेन्द्रिय से और शक्तियों को शिखावटों से निरन्तर लेओ।

(अध्याय २५ मन्त्र ३१ पृ० ४१८)

हे विद्वान ! प्रशस्त वेग वाले उस बलवान घोडे का जो उदरबन्धन अर्थात् तङ्गी और अगाडी पछाडी ओर पैर बांधने की रस्सी है वा शिर मे होने वाली मुंह मे व्याप्त रस्सी मुहेरा आदि अथवा जो उस घोडे के मुंह में घास दूब आदि विशेष तृण उत्तमता से धरा होवें वह सब तेरी हों और यह उक्त पदार्थ विद्वानो मे भी हों।

(इसी के आगे का ३२ वां मन्त्र पृ० ४१९)

"हे मनुष्यो ! जो मक्खी चलते हुये शीघ्र जाने वाले का भोजन करती और कुछ मल रुधिरादि खाती अथवा जो स्वरु-वज्र के समान वर्तमान है वा यज्ञ करने हारे के हाथों मे जो वस्तु प्राण और नख से प्राप्त है, वे सब तुम्हारे हों तथा यह सब व्यवहार विद्वानों मे भी हो।"

ईश्वर लोगों को इन मन्त्रो से क्या उपदेश देता है, इसको ईश्वर अथवा स्वामी जी ही समझें। हमारी तुच्छ समझ से ईश्वर ने उपर्युक्त ३१ वें मन्त्र मे विद्वानों को सहीस का काम सीखने की प्रेरणा की है। ३२ वें मन्त्र में ईश्वर ने क्या आशीर्वाद दिया और पहले मन्त्र मे उसने कौनसा गूढ तत्व प्रगट किया है ? यह जरा भी समझ में नहीं आया। न जाने—गुदेन्द्रिय से

अन्धे कुटिल सांप और अण्डकोषों मे घोड़े कैसे लिये जावें, इस विकट गवेषणा में डाक्टर भी साहस छोड़ जावेंगे। ऐसे नमूने भी सैकड़ों हैं. परन्तु इस समय आप इतने पर ही विचार कीजिये।

कुछ असम्भव बातों के नमूने भी देखिये—

(यजुर्वेद अध्याय ३६ मन्त्र २ पृ० ४५१)

हे मनुष्यो! **मैं ईश्वर** जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और **अपने स्त्री, सेवक** आदि उत्तमयुक्त प्राप्त हुए अन्त्यज के लिये भी, इन उक्त सब मनुष्यों के लिये संसार में इस प्रगट की हुई सुख देने वाली चारों वेद रूप वाणी का उपदेश करता हूं वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार करें। जैसे मैं दान वाले के संसर्गी विद्वानों की दक्षिणा अर्थात दान आदि के लिये मनोहर प्यारा होऊं और मेरी यह कामना उत्तमता से बढ़े तथा मुझे वह परोक्ष सुख प्राप्त हो वैसे आप लोग भी होवें और वह कामना तथा सुख आपको प्राप्त होवे।

सज्जनो! **'मैं ईश्वर' मेरी'** आदि शब्दों से ईश्वर ने अपने को बतलाया सो तो ठीक किन्तु उस निरंजन ईश्वर के पास स्त्री, नौकर चाकर कहां से आ गये जिनको उसने वेदों का उपदेश दिया! **"मैं मनोहर प्यारा होऊं, मुझे परोक्ष सुख प्राप्त हों"** इन शब्दों से ईश्वर अपनी किन ख्वाहिशों को (इच्छाओं को) प्रगट करता है! सोचिये—

(१३६७ वां पृष्ठ १३ वां अध्याय ५१ वां मन्त्र)

हे राजन्! तू जो निश्चित बकरा उत्पन्न होता है वह प्रथम उत्पादक को देखता है जिससे पवित्र हुए विद्वान उत्तम सुख और दिव्य गुणों के उपाय को प्राप्त होते हैं और जिससे वृद्धियुक्त प्रसिद्धि को प्राप्त होवें, उससे उत्तम गुणों, उत्तम सुख तथा उससे वृद्धि को प्राप्ति हो।

महाशयो! बकरे में ऐसे कौन से विशेष गुण हैं जिससे कि वह विद्वानों को पवित्र कर देता है? उत्तम गुण, सुख, वृद्धियुक्त प्रसिद्धि बकरा किस प्रकार कर देता है? बकरी से दूध भी मिलता है, बकरे से तो वह भी नहीं। बकरे के शरीर में ऐसा कौन सा पदार्थ है, जो गुण, सुख आदि को बढ़ाता है? मांसभक्षियों के कहने अनुसार क्या बकरे के मांस से यह सब कुछ होता है।

(३६ वां अध्याय ९ वां मन्त्र पृ० ११६८)

पृथ्वी के बीच विद्वानों के यज्ञस्थल में वेगवान घोड़े की लेंडी (लीद) से तुझ को, पृथिव्यादि के ज्ञान के लिये तुझको, तत्त्व बोध के उत्तम वचन के लिये तुझको, यज्ञसिद्धि के लिये तुझको, यज्ञ के उत्तम अवयव की सिद्धि के लिये तुझ को सम्यक् तपाता हूं।

प्यारे दोस्तो! विचार करो कि ईश्वर घोड़े की लीद से पृथिव्यादि, तत्वबोध के लिये, यज्ञ की सिद्धि के लिये तथा उत्तम वचन आदि के लिये किसे तपा रहा है? क्या ईश्वर को

जाड़ा लगता है? या अग्नि, वायु आदि ऋषियों को सर्दी लगती है? अथवा यह वेदी कोई घुडसार है? जिसमें मेवे की जगह पर घोड़े की लीद तपाई जाय? ईश्वर की क्या स्पष्ट इच्छा है सो स्वामी जी ने भी गोलमाल करदी।

वेदों को बनाने वाला यदि ईश्वर है तो वह पशुओं का, अन्नों का खरीदने बेचने वाला बड़ा भारी व्यापारी है। यह बात नीचे के २-३ मन्त्रों से प्रगट होती है—

(यजुर्वेद अध्याय १८ मंत्र २६ पृष्ठ १६२८)

मेरा तीन प्रकार का भेड़ों वाला और इससे भिन्न सामग्री, मेरी तीन प्रकार की भेड़ो वाली स्त्री और इनसे उत्पन्न हुए घृतादि, मेरे खंडितक्रियाओं मे हुए विघ्नों को पृथक् करने वाला और इसके सम्बन्धी मेरी उन्हीं क्रियाओं को प्राप्ति करानेहारी गाय आदि और उसकी रक्षा मेरा पांच प्रकार की भेड़ों वाला और उसके घृतादि मेरी पांच प्रकार की भेड़ों वाली स्त्री और इसके उद्योग आदि, मेरा तीन बछड़े वाला और उसके मेरा तीन बछड़े वाली गौ और उसके घृतादि, मेरा चौथे वर्ष को प्राप्त बैल आदि और इसको काम में लाना, मेरी चौथे वर्ष को प्राप्त गौ और इसकी शिक्षाय सब पदार्थ पशुओं के पालने के विधान से समर्थ होवें।

प्यारे पाठको! ईश्वर क्या भेड़ें, गायें बछड़े घी आदि चीजों को बेच कर व्यापार करता है? क्या उसके पास में तीन प्रकार की और पांच प्रकार की भेड़ो वाली पेसी दो स्त्रियां है? इस मंत्र में कौन सा तत्वज्ञान भरा है? विचारिये—

(अध्याय १८ मंत्र २७ पृष्ठ ११३०)

मेरी पीठ से भार उठानेहारे हाथी ऊट आदि और उनके सम्बन्धी मेरी पोठ से भार उठानेहारी घोडी ऊटनी आदि और उनसे उठाये गये पदार्थ मेरे वीर्य-सेवन में समर्थ वृषभ और वीर्य धारण करने वाली गौ आदि, मेरी बन्ध्या गौ और वीर्यहीन वैल, मेरा समर्थ वैल और बलवती गौ, मेरी गर्भ गिराने वाली गौ और सामर्थ्यहीन गौ, मेरा हल और गाडी आदि चलाने मे समर्थ बैल और गाडीवान आदि मेरी नवीन थाही दूध देनेहारी गाय और उसको दोहने वाला जन, ये सब पशु शिक्षा-रूप यज्ञ-कर्म से समर्थ होवें।

इस मंत्र से यह मालूम होता है कि ईश्वर के पास बोझ ढोने वाले पशुओं के खरीदने बेचने की दुकान है। इसके आगे यह समझ मे नहीं आया कि ईश्वर का वीर्य सेवन में समर्थ बैल कैसे हुआ ? गाय होती तो भी कुछ समझ में आ जाता।

(अध्याय १८ मंत्र १२)

मेरे चावल और साठी के धान, मेरे जौ अरहर, मेरे उरद मटर, मेरा तिल और नारियल, मेरे मूंग और उसका बनाना, मेरे चने और उनका सिद्ध करना, मेरी कंगुनी और उसका बनाना, मेरे सूक्ष्म चावल और उनका पाक, मेरा समा और मडुवा पटेरा चैना आदि छोटे अन्न मेरा पसाई के चावल

जो कि बिना बोए उत्पन्न होते हैं और इन का पाक, मेरे गेहूं और उनका पकाना, मेरी मसूर और इनका सम्बन्धी अन्य अन्न, ये सब अन्न सब अन्नों के दाता परमेश्वर से समर्थ हों।

मित्रवरो! प्रथम तो यह देखिये कि इस मन्त्र में कौन सी विद्या या उपदेशजनक बहुमूल्य बात रक्खी है? जिससे कि इस मन्त्र का बनाने वाला कोई ऋषि न माना जाकर ईश्वर ही माना जाय। दूसरे यदि ईश्वर इस मन्त्र का रचयिता है तो मानना पडेगा कि कोई एक दूसरा भी अन्नदाता ईश्वर है। क्योंकि "ये सब अन्न अन्नों के दाता परमेश्वर से समर्थ हों" इस वाक्य का मतलब ही ऐसा निकलता है।

प्रिय सज्जनो! आप के सामने वेदों के कितने मन्त्रों को रक्खा जाय, आप वेदों को स्वयं पढ़िये, स्वामी जी उनका अर्थ हिन्दी भाषा में भी कर गये हैं। उसे पढ़ कर आप लोग स्वामी जी के पलटे हुये भी वेद-मन्त्रों के अर्थ से वेदों की सार-शून्यता का पता लगा सकते हैं। कोई भी बात उसमे प्रकरणबद्ध नहीं कही गई है। मदरसों में जैसे छोटे २ लड़के इधर-उधर की इबारत लिखा करते हैं, वेदों को पढ़ कर आप स्वयं देखेंगे कि उनकी लेखनशैली वैसी ही है। जिस मांस भक्षण व पशुहिंसा को धार्मिक समाज निन्दित समझता है, उसका विधान वेदों में बड़े विस्तार के साथ है। इस बात को

स्वामी जी ने यद्यपि बहुत छिपाना चाहा है, किन्तु नहीं छिप सकी। पहले जमाने मे जो वैदिक यज्ञों में गोवध, अजा-वध आदि होता था, उन बातों के प्रगट करने वाले मन्त्रों को स्वामी जी भी एक दम नहीं पलट सके है। देखिये—

(यजुर्वेद २८ अध्याय ३३ वां मंत्र)

वन्ध्या तथा गर्भ गिरानेहारी गौ और अभीष्ट वस्तु को धारण करता हुआ यज्ञ करे।

(२८ अध्याय २३ वां मंत्र)

होम के लिये पाक विशेष को पकाता और रोगों को नष्ट करनेहारी बकरी को बांधता हुआ यज्ञ करने में कुशल, तेजस्वी विद्वान् को स्वीकार करे।

संवत १९३३ में एशियाटिक प्रेस बम्बई से प्रकाशित संस्कारविधि के पृष्ठ ११ मे स्वामी जी ने बृहदारण्यक उप-निषद् के 'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पंडितः' इत्यादि मंत्र का अर्थ ऐसा किया है।

"जो चाहे कि मेरा पुत्र पंण्डित सदसद्विवेकी, शत्रुओं को जीतने वाला, स्वयं जीतने में न आने वाला, युद्ध में गमन हर्ष और निर्भयता करने वाला, शिक्षित वाणी का बोलने वाला, सब वेद-वेदांग विद्या का पढ़ने और पढाने तथा सर्वायु का भोगने वाला पुत्र होय, वह मांसयुक्त भात को पकाके पूर्वोक्त घृतयुक्त खाय तो वैसे पुत्र होने का सम्भव है। "

इसी का ४२ वां पृष्ठ देखिये—

(अजमन्नाद्यकामः ॥२॥ तैत्तर्रं ब्रह्मवर्चसकाम. ॥३॥)

अर्थात्—अजाके मांस का भोजन अन्नादि की इच्छा रखने वाला तथा विद्या-कामना के लिये तित्तर का मांस भोजन करावे।

जबकि जीवहिंसा मांस भक्षण मदिरापान आदि को नीच घृणित कार्य समझने वाले स्वामी जी ने स्वयं ऐसा लिखा है, तब कौन ऐसा वेदानुयायी वीर है जो कि वेदों में हिंसा विधान के अस्तित्व को मिटा सके! इस तरह वेद मांसभक्षण या गोकशी आदि का उपदेश देते हुये भी ईश्वरकृत और प्रामाणिक बने रहें, आश्चर्य है !!

वेदों में हिंसक कथन के कुछ और उदाहरण

जिन वेदों को स्वामी जी दयालु परमात्मा का बनाया हुआ ग्रन्थ बतलाते हैं उन वेदों में जीवों की हिंसा करने का उपदेश और भी विद्यमान है। देखिये—

(यजुर्वेद अध्याय ३० मन्त्र १६ पृ० १०३६)

हे जगदीश्वर ! वा राजन् ! आप बड़े तालावों के लिये धीमर के लड़के को......छोटे २ जला-शयों के लिये निषाद के अपत्य को, नरसल वाली

भूमि के लिये मछलियों से जीवने वाले को ..
उत्पन्न कीजिये।

कहिये यह वेदमन्त्र मछली खाने का उपदेश करता है या नहीं ? फिर मछली खाने वाले वेदानुसार न तो हिंसक, निन्द्य, पापी होने चाहिये और न दयालु परमात्मा के द्वारा वे दंडनीय होने चाहिये।

(यजुर्वेद २४ वां अध्याय ३० वां मन्त्र ८१० वां पृष्ठ)

हे मनुष्यो ! तुम को······बन का मैढा न्यायाधीश के लिये काला हिरण, मनुष्यों के राजा के लिये वानर, बड़े सिंह अर्थात् केशरी के लिये लाल मृग······समुद्र के लिये बालकों को मारने वाला शिशुआर······ अच्छे प्रकार युक्त करना चाहिये।

इस मन्त्र में ईश्वर उपदेश देता है कि न्यायाधीश (जज) के लिये काला हिरण और शेर के लिये लाल हिरण मिलाना चाहिये। क्यों ? इसका उत्तर सरल है "खाने के लिये"। क्योंकि हिरण शेर का भोजन है, खेलने का सामान नहीं है। इस तरह यहां वेद हिरण की हिंसा का उपदेश करता है।

पशु होम का उदाहरण लीजिये—

(यजुर्वेद अध्याय १९ मन्त्र २० पृ० ६१४)

भावार्थ—जो इस संसार में बहुत पशु वाला होम करके

हुत शेष का भोक्ता वेदवित् और सत्य क्रिया का कर्ता मनुष्य होवे सो प्रशंसा को प्राप्त होता है।

इस मन्त्र में स्वामी जी के लिखे अनुसार ईश्वर बहुत से पशुओं के हवन करने का उपदेश देता है। इसी कारण स्वामी जी ने अपने सत्यार्थप्रकाश में (पहला ऐडीशन) ३०३ पृष्ठ पर पशुओं के मांस से हवन करना और हुतशेष (हवन किये हुये मांस में से बचे हुये मांस) का खा लेना लिखा था।

(यजुर्वेद १३ वां अध्याय ८ वां मन्त्र ४४२ वां पृष्ठ)

भावार्थ—मनुष्योंको चाहिये कि जो जलोंमें आकाशमें दुष्ट प्राणी वा सर्प हैं उनको शस्त्रों से निवृत्त करें।

वेद यदि ईश्वरकृत है तो समझना चाहिये कि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं, अल्पज्ञ है जो कि पहले तो सर्प आदि दुष्ट प्राणियों को पैदा करता है और फिर उनको हथियारों से मारने का उपदेश देता है।

इसी प्रकार यजुर्वेद मे और भी दो चार नहीं किन्तु बीसों वेद मंत्र है जिनमें प्रगट, अप्रगट रूप से जीवहिंसा का उपदेश दिया है। जीवहिंसा सरीखे महाघोर पाप का उपदेशक ग्रन्थ क्या ईश्वरीय हो सकता है, इसको आर्यसमाजी स्वयं विचारें।

अथर्ववेद तो ऐसे हिंसाकृत्यों के उपदेश से भरा पड़ा है। अभी प्रोफेसर जयदेव जी विद्यालंकार कृत भाषा भाष्य वाले

अथर्ववेद को देखने की आर्यसमाजी भाई तकलीफ उठावें; फिर विचार करें कि वेद किसने बनाये हैं ?

अश्लील कथन

वेदों में ऐसा गंदा अश्लील कथन भी भरा हुआ है जिसको सभा में, सभ्य पुरुषों के सामने तथा स्त्रियों के समक्ष पढ़ने सुनाने से लज्जा आती है। देखिये—

(यजुर्वेद छठा अध्याय १४ वां मंत्र १७४ वां पृष्ठ)

हे शिष्य !··· ···मैं तेरे····· लिङ्ग को पवित्र करता हूँ। तेरे जिससे रक्षा की जाती है उस गुदेन्द्रिय को पवित्र करता हूं। ····

पता नहीं गुरु या गुरुआनी अपने शिष्य के लिङ्ग और गुदा को किस प्रकार किस क्रिया से पवित्र करते हैं ? और उन्हें शिष्य के लिंग और गुदा के पवित्र करने से क्या प्रयोजन है ? स्वामी जी खुलासा कर जाते तो अच्छा था।

(यजुर्वेद १९ वां अध्याय ७६ वां मंत्र ७२१ वां पृष्ठ)

पुरुष का लिंगेन्द्रिय स्त्री की योनि में प्रवेश करता हुआ वीर्य को विशेष करके छोड़ता है। इत्यादि।

आर्यसमाजी बतलावें कि इन अश्लील बातों से वेदों को कितनी प्रतिष्ठा है और यह कौन सा पदार्थ-विज्ञान है ?

अश्लील कथन के और भी विधान अनेक मंत्रों में हैं। क्या ईश्वरीय ज्ञान के ये ही सुन्दर नमूने हैं ?

यजुर्वेद २३ वें अध्याय के १६ वें मन्त्र से ३१ वें मन्त्र तक १३ मन्त्रों में जो अश्लील अमानुषिक असभ्य कथन है उस से बढ़ कर असभ्य अश्लील कथन कोई नहीं हो सकता। यजमान की स्त्री घोड़े के साथ मैथुन करे, यज्ञशाला मे पुरोहित कुमारी लडकियों से असभ्य हंसी करे, वे लडकियां भी पुरोहित को असभ्यता से उत्तर दें, इत्यादि अश्लील कथन इन वेद मन्त्रों मे है। यद्यपि स्वामी जी ने इस कलङ्क को धो डालने के लिये इन मन्त्रों का अर्थ पलट दिया है, किन्तु वह अप्रामाणिक है; क्योंकि वह अर्थ प्रकरण, ब्राह्मणग्रन्थ, कात्यायन सूत्र, गिरिधरभाष्य आदि सभी के विरुद्ध सिद्ध होने से कल्पित है। अत्यन्त अश्लील होने से उन मन्त्रो को हमने यहां नहीं लिखा है।

विचार करें कि ऐसी असभ्य, अश्लील, अमानुषिक बातों का उल्लेख ईश्वर कर सकता है?

पुनरुक्त दोष

एक बात को एक बार कह कर या लिख कर फिर उसी बात का कहना या लिखना पुनरुक्त दोष है। क्योंकि जो बात एक बार लिख दी फिर उसी को लिखना व्यर्थ है उससे कुछ मतलब नहीं निकलता। यह दोष सामान्य ग्रन्थ रचयिता भी अपने ग्रन्थ में नहीं आने देते, फिर ईश्वर की पुस्तक में यह पुनरुक्त दोष आ जावे तो समझना चाहिये कि या तो ईश्वर मामूली विद्वान से भी गया बीता है या वह पुस्तक ईश्वरीय नहीं।

वेदोंमें ऐसी ही बात है, उसमे अनेक पुनरुक्त हैं। अवलोकन कीजिये—

(यजुर्वेद २३ वां अध्याय पृ० ८४४ मन्त्र ९–१०)

कः स्विदेकाकी चरति क उस्विज्जायते पुनः।
किं स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वा वपनं महत् ॥९॥
सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥१०॥

अब इसी २३ वें अध्याय के ८३३ वें पृष्ठ पर ४५—४६ वें मन्त्र देखिये—

कि स्विदेकाकी चरति क उस्विज्जायते पुनः।
किं स्विद्धिमस्य भेषजम् किम्वा वपनं महत् ॥
सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं; भूमिरावपनम् महत् ॥

पहले ९ वें १० वें मन्त्रों से इन दोनों मन्त्रों में किसी भी अक्षर और शब्द का फर्क नहीं है, बिलकुल एक हैं। अर्थ भी एक ही है। देखिये—

"हे विद्वान! इस संसार में कौन अकेला चलता वा प्राप्त होता है और कौन फिर फिर पैदा होता है, कौन शीत का औषध है और क्या बड़ा अच्छे प्रकार सब बीज बोने का आधार है। इस सब को आप कहिये। ९—४५।"

"हे जिज्ञासु जानने की इच्छा करने वाले पुरुष! सूर्य लोक अपनी परिधि में अकेला घूमता है, चन्द्रमा फिर फिर

प्रकाशित होता है, पावक शीत का औषध है और बड़ा अच्छे प्रकार होने का आधार कि जिस में सब वस्तु बोते हैं वह भूमि है। १०—४६।"

इस प्रकार प्रश्न उत्तर रूप से ६—१० वें मन्त्रों का जो अभिप्राय है उसी अभिप्राय को उसी रूप में उसी अपने शब्दों से ४५—४६ वें मन्त्र कहते हैं। आर्यसमाजी बतलावें कि ईश्वर ने यह पिष्टपेषण क्यों किया? क्या सर्वज्ञ ईश्वर एक अध्याय के मन्त्रों में भी इतनी भारी भूल कर सकता है?

ऐसा ही पिष्टपेषण (पुनरुक्त) इसी २३ वें अध्याय में और भी है। उसमें (यजुर्वेद में) ११—१२वें मन्त्र ८४५ वें पृष्ठ पर लिख कर ८६७ पेज पर वे ही मन्त्र हूबहू ५३—५४ वें हैं। उन्हें यहां लिख कर हम अपना तथा पाठकों का समय व्यर्थ नहीं लेना चाहते। पाठक महाशय स्वयं देख लेवें।

मतलब यह है कि इस २३ वें अध्याय में ४ मन्त्र व्यर्थ दो बार लिख दिये हैं। इस कारण ६१ मन्त्रो के स्थान पर ६५ मन्त्र बना कर अपनी हास्यजनक भूल का नमूना दिखाया है। आर्यसमाजी महाशयो! क्या आप बतलावेंगे कि यह भूल ईश्वर ने की है या कि उन ऋषियों ने जो वेदमन्त्रों के असली बनाने वाले हैं? अथवा स्वामी दयानन्द जी ही भूल गये हैं।

(यजुर्वेद ३७ वां अध्याय, ८ वां मन्त्र, ११६६ पृष्ठ)

मखस्य शिरोसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।'

मखस्य शिरोसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।

मखस्य शिरोसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य
त्वा शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।

इस मन्त्र मे मख, शिर, शीर्ष शब्दो को बार २ आफत ले डाली है। पता नहीं बेचारे क्यो बार बार पकडे गये है ?

ऐसा **पुनरुक्त** सरीखा महादोष उन वेदों मे मौजूद है तब वेद ईश्वररचित कैसे कहा जावे ? इस का उत्तर आर्यसमाजी विद्वान द ।

विरोधी कथन

प्रामाणिक ग्रन्थ मे एक बात अवश्य होनी चाहिये। उस के हुए विना ग्रन्थ अप्रामाणिक समझा जाता है। वह बात है **'अविरुद्धकथन'**। सामान्य बुद्धिमान पुरुष भी यदि कोई पुस्तक लिखता है, उस मे भी वह इस बात का पूरा विचार रखता है कि कोई ऐसी बात न लिखी जावे जो उसी पुस्तक के किसी विषय के विरुद्ध साबित हो, फिर वेद तो इलहामी (ईश्वरीय) बतलाये जाते है। उनमें यदि परस्पर विरोधी (एक दूसरे के खिलाफ) लेख (मन्त्र) पाये जाते है तो कौन कह सकता है, कि वेद प्रमाण ग्रन्थ है या किसी असाधारण विद्वान के बनाये हुये है ?

(देखिये यजुर्वेद ३० अध्याय १० वां मन्त्र १०३९ वां पृष्ठ)

हे परमेश्वर वा राजन् ! अग्नि के लिये मोटे पदार्थ को

पृथ्वी के लिये बिना पगों के कढ़ेटिये चलने वाले सांप आदि को ... . उत्पन्न कीजिये।

इस मन्त्र में ईश्वर ने बतलाया कि मुझ से प्रार्थना करो कि मैं पृथिवी के लिये सांप पैदा करू। अब देखिये—

(यजुर्वेद १३ वां अध्याय ७ वां मन्त्र ४४२ पृष्ठ)

'भावार्थ— मनुष्यों को चाहिये कि जो मार्गो और बनों में दुष्ट प्राणी एकान्त में दिन के समय सोते है उन डाकुओं और सर्पों को शस्त्र औषधि आदि से निवारण करें।

पूर्व मन्त्र का रचयिता ईश्वर ही यहां उपदेश करता है कि मनुष्य हथियार से सांपों को मार देवें। अब इन दोनो में से कौन सा मन्त्र ठीक समझा जावे, क्योंकि ये दोनों एक दूसरे के विरोधी है। पहिला जब यह कहता है 'सांप पैदा करो' तब दूसरा कहता है कि 'सांपों को मार डालो' जिस ईश्वर को स्वामी दयानन्द जी त्रिकालज्ञाता सर्वज्ञ कहते है, वह वेद् बनाते समय यह साधारण बात भी याद न रख सका कि मेरे ये मंत्र परस्पर विरोधी होगये है।

ऐसी परस्पर विरोधी बातें साधारण अल्पज्ञ के ग्रन्थ में ही मिलनी चाहिये। इस से सिद्ध होता है कि या तो वेद् ईश्वरीय (इलहामी) नहीं, अथवा वेद्—रचयिता कल्पित ईश्वर कम से कम सर्वज्ञ नहीं।

जो ग्रन्थ निर्माता जीवों को हथियारों से मारने का उपदेश देवे वह समस्त संसार का परिपालन करने वाला दयालु परमात्मा कैसे हो सकता है। अपने ही आप बनावे और खुद ही उन जीवों को मरवावे।

अब आर्यसमाजी स्वयं विचारें कि वेद ईश्वर प्रणीत हैं या नहीं ?

वसिष्ठ ऋषि के मन्त्र

ऋग्वेद मे दस मण्डल है प्रत्येक मण्डल में अनेक सूक्त (मनोहर गीत, कविता) और प्रत्येक सूक्त में अनेक श्लोक हैं, जिनको ऋचा या मन्त्र भी कहते हैं। ऋग्वेद मे सब १०५२१ ऋचाएं है। ऋग्वेद का सातवां मण्डल वसिष्ठ ऋषि ने बनाया है। सातवें मण्डल मे १०४ सूक्त हैं। इन १०४ सूक्तो मे से ७२ सूक्तो की अन्तिम ऋचा (श्लोक) का अन्तिम पद यह है—

यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।

अर्थात्—तुम हमारी रक्षा सदा सुख शान्तियों से करो।

सातवें मण्डल के जिन सूक्तों की अन्तिम ऋचा का अन्तिम पद 'यूयं पात स्वस्तिभि' सदा नः' है, वे सूक्त १-३-४-७ ८-९-११-१२-१३-१४-१९-२०-२१ आदि नम्बरों के हैं।

क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वेद भिन्न २ ऋषियों के बनाये हुये है ? क्योंकि एक तो ईश्वर यह कह नहीं सकता

कि 'तुम हमारी शान्ति से सदा रक्षा करो' क्योंकि वह कृतकृत्य अनन्त शक्तिमान, अनन्त सुखसम्पन्न ईश्वर है; उसे रक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। दूसरे—एक बात को बार बार कहना और प्रार्थना करना यह भी ईश्वर का कार्य नहीं। जो बात एक बार कह दी, ईश्वर पुनरुक्त दोष में आकर उसको फिर दूसरी बार क्यों कहे?

इस कारण भी सिद्ध होता है कि वेद ईश्वरकृत नहीं किन्तु ऋषियों के बनाये हुए हैं।

ऐतिहासिक मन्त्र

स्वामी दयानन्द जी के लिखे अनुसार वेद यदि ईश्वर ने सृष्टि की आदि में बनाये हैं, इस कारण सब से प्राचीन हैं तो उन में ऐसी कोई भी बात नहीं लिखी होनी चाहिये जो कि सृष्टि से पीछे के ज़माने में हुई हो। किसी ऐतिहासिक (तवारीखी) बात का लिखा रहना साबित करता है कि वह पुस्तक उससे पीछे बनी है जिसका इतिहास उसमें मौजूद है।

वेदों में अनेक ऐतिहासिक बातें पाई जाती हैं जो कि सिद्ध करती हैं कि वेद पीछे ऋषियों ने बनाये हैं।

(देखिये यजुर्वेद अध्याय १२ मन्त्र ४ पृ० ३७४-३७५)

हे विद्वन्! जिससे आपका तीन कर्म उपासना और ज्ञानों से युक्त दुःखों का जिससे नाश हो गायत्री छन्द से कहे विज्ञान रूप अर्थ नेत्र बड़े २ रथों के सहाय से दुःखों को छुड़ाने

वाले इधर उधर के अवयव स्तुति के योग्य ऋग्वेद अपना स्वरूप उष्णिक् आदि छन्द कान आदि यजुर्वेद के मन्त्र नाम गहण करते और छोडने योग्य व्यवहारो के योग्य 'वामदेव' ऋषि ने जाने वा पढ़ाये . ...।

इस प्रकार यह वेदमन्त्र साफ कहता है कि ऋग्वेद को तथा यजुर्वेद के मन्त्रों को 'वामदेव' नामक ऋषि ने जाना और पढ़ाया। इससे स्पष्ट साबित होता है कि कम से कम यह वेद मन्त्र तो वामदेव ऋषि द्वारा वेद पढ़ाये जाने के पीछे बना है।

यह ऐतिहासिक प्रमाण तो यजुर्वेद का हुआ अब ऋग्वेद के भी ऐतिहासिक प्रमाण देखिये ।

ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र है—

इय शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः। पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥

इस ऋचा का स्पष्ट अर्थ करते हुए यास्काचार्य ने निरुक्त के नैगम काण्ड अध्याय २ पाद ७ वां पृ० ११ (सं० १९६० में अजमेर वैदिक यन्त्रालय से प्रकाशित) पर लिखा है—

"तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वामित्रऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव। विश्वामित्रः सर्वमित्रः सर्वं संसृतं सुदाः कल्याणदानः पैजवनः, पिजवनस्य पुत्रः, पिजवनः पुनः

स्पर्धनीयजवो वा मिश्री भावगतिर्वा। स वित्तं गृहीत्वा विपाट्-छुतद्र्योः सम्भेदमाययावनुययुरितरे। स विश्वामित्रो नदीस्तु-ष्टाव गाधाभवतेत्यपिद्विवदपि बहुवत्तद्यद् द्विवदुपरिष्टात्तद् व्याख्या-स्यामोऽथैतद् बहुवत् । २४।२।

उपर्युक्त ऋग्वेद के विषय में (कब किसने इस मन्त्र को क्यों बनाया यह) इतिहास बतलाते है। विश्वामित्र ऋषि सुदास (दानवीर) पैजवन राजा का पुरोहित था। (विश्वामित्र का अर्थ सब का मित्र या सब जिसके मित्र हों अथवा समस्त संसार मे फैला हुआ है। सुदास् का अर्थ अच्छा देने वाला है। और पैजवन का अर्थ पिजवन का पुत्र। पिजवन माने स्पर्धा के योग्य वेग वाला है अथवा न मिली हुई गति वाला अर्थात जिसके गमन को कोई न पहुँच सके ऐसा है) वह विश्वामित्र ऋषि दक्षिणा (धन) लेकर व्यास और सतलुज नदी के संगम (जहां दोनों नदी मिलती हैं) पर आया। उसके पीछे २ दूसरे चोर आदि आये। तब विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की कि गाध यानी पैरों से पार हो जाने योग्य हो जाओ।" (दो की तरह भी और बहुत के समान भी वह आगे व्याख्या करेंगे। यहां अब बहुत के समान व्याख्या की जाती है)।

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्रसिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः।

(ऋग्वेद ३ म॰ ३ अ० ३३ सूक्त ५ ऋचा)

निरुक्त में पूर्वोक्त मन्त्र के पश्चात् इस मन्त्र की व्याख्या १६वें पृष्ठ पर यों की गई है—

"उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिन ऋतावरी ऋतवत्य ऋतमित्युदक नाम प्रत्ययं भवति मुहूर्तमेवैरयनैरव-नैर्वा। मुहूर्तो मुहुऋतुऋतुरर्ते गतिकर्मणो मुहुर्मूढ इव कालो यावदभीक्ष्णं चेति। अभीक्ष्णमभिक्षणं भवति क्षणः क्षणोते' प्रक्ष्णुतः कालः। कालः कालयतेर्गतिकर्मण॰। प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या महत्या मनीषया, मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया-चावनाय कुशिकस्य सूनुः। कुशिको राजा बभूव। क्रोशते॰ शब्दकर्मणः' क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयति कर्मणः साधु विक्रो-शयितार्थानामिति वा नद्यः प्रत्यूचुः।"

डी. ए. वी. कालेज लाहौर के प्रोफेसर पं० राजा राम जी कृत भाषानुवाद वाले निरुक्त में १३२ वें पृष्ठ पर इसका भावार्थ यों लिखा है— (सन् १६३४ में प्रकाशित)

"हे जलवालियो! (देवताओं के लिये) सोम के तयार करने वाले मेरे वचन के (आदर के) लिये मुहूर्त भर (अपनी प्रबल) गतियों से ठहर जाओ (ताकि मैं पार होजाऊं) मैं जो कुशिक का पुत्र (विश्वामित्र) हूं रक्षा चाहता हुआ ऊंची दिली स्तुति से सिन्धु को लक्ष्य करके बुलाता हूं।"

इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों ऋग्वेदीय मन्त्र विश्वामित्र ऋषि के बनाये हुए हैं। विश्वामित्र ने इन दोनों मन्त्रों को तब

बनाया था जब कि वह अपने यजमान पैजवन राजा से दक्षिणा (धन) लेकर सतलुज और व्यास नदी के संगम पर आगया था और चोर उसका धन लूट लेने के लिये पीछा कर रहे थे। मौके के मुआफिक दोनों मन्त्रों में उसने नदियों से प्रार्थना की कि हे नदियो! तुम अपनी गहराई और वेग थोडा करलो जिससे मैं पैदल पार हो जाऊं! इस कारण ये दोनों मन्त्र विश्वामित्र ऋषि के बनाये हुये ऐतिहासिक (तवारीखी) मन्त्र हैं।

आर्यसमाजी भाइयो! स्वामी जी का तथा आपका दावा है कि वेद ईश्वरीय हैं; फिर क्या बात ? वेद का प्रधान अङ्ग जिसको स्वामी जी के समान आप भी अक्षरशः प्रमाण मानते हैं वह निरुक्त स्पष्ट कहता है कि ये दो मन्त्र विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति रूप में बनाये हैं। निरुक्त भी किसी और का नहीं किन्तु आपके कट्टर आर्यसमाजी विद्वान के भाषानुवाद वाला तथा 'वैदिक प्रेस' अजमेर का छपा हुआ। अब आप ही कहिये कि आप सच्चे हैं या निरुक्त ?

एक और भी प्रमाण लीजिये—निरुक्त (सं० १९६० में अजमेर से प्रकाशित) के १४ वें पृष्ठ पर ऋग्वेद की दो ऋचाओं के विषय में लिखा है—

"तत्रेतिहासमाचक्षते—देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो

न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वया चरितो ज्येष्ठ भ्रातर-मन्तरित्याभिषेचित तस्मात्तेदेवो न वर्षतीति। स शन्तनु-र्देवापिं शिशिक्ष राज्येन, तमुवाच देवापिः पुरोहितस्ते ऽसानि याजयानि च त्वेति। तस्यैतद्वर्षकामसूक्तम्। तस्यैषा भवति।"

॥१०॥

इसका भावानुवाद पं० राजाराम जो प्रोफेसर डी० ए० वी० कालिज ने (१९१४ मे लाहौर से प्रकाशित) निरुक्त के १०८ वें पृ० पर यो किया है—

"उसमे इतिहास कहते है ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि और शन्तनु दोनो कुरुवंशी भाई हुये हैं। शन्तनु जो दोनों मे छोटा था उसने (अपना) अभिषेक किया (राजा बना) दूसरा देवापि तपमें लग गया। उससे शन्तनु के राज्य में बारह वर्ष मेघ न बरसा। उसे ब्राह्मणों ने कहा तू ने अधर्म किया है कि बडे भाई को उलांघ अभिषेक कर लिया है, इससे तेरे (राज्य मे) देव नहीं बरसता है। तब शन्तनु ने देवापि को राज्य देना चाहा। देवापि ने उससे कहा 'तेरा पुरोहित हूँगा' और तुझे यज्ञ कराऊंगा (मैं अब राजा नही हूंगा राजा आप ही रहें) उस (देवापि) का यह वर्ष कामसूक्त (वर्षा की कामना वाले का सूक्त) है, उस (सूक्त) की यह (ऋचा) है (दोनों समुद्रों का विभाग दिख-लाने वाली) १०।"

निरुक्त (दूसरा एडीशन अजमेर पृ० १४)

आर्ष्टिषेणोहोत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।

स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि ॥

—ऋग्वेद मण्डल १० अ० ८ सूक्त ६४ ऋचा ५)

"आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्र इषितसेनस्येति वा। सेना सेश्वरा समानगतिर्वा पुत्रः, पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायते इति वा। होत्रमृषिर्निषीदन्नृषिदर्शनात्स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवस्तद्यदेनांस्तपस्यमानान्—ब्रह्मस्वयम्भ्वभ्यानर्षत्तऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते। देवापिर्देवानामाप्त्या स्तुत्या च प्रदानेन च देवसुमतिं देवानां कल्याणीं मतिं चिकित्वाँश्चेतनवान्। स उत्तरस्मादधरं समुद्रमुत्तर उद्धततरो भवत्यधरोऽधोरः। अधो न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा। तस्योत्तरा। भूयसे निर्वचनाय ॥११॥"

इसका भाषा भावार्थ पं० राजाराम जी ने अपने निरुक्त के १०६ वें पृष्ठ पर यों किया है—

"ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि ऋषि देवताओं की कल्याणी मति (यज्ञ में पुकारे हुए अवश्य वृष्टि लायेंगे इस मति) को जानता हुआ होता के कर्म मे बैठा। वह ऊपर के समुद्र (अन्तरिक्ष) से वर्षा के दिव्यजल निचले (पृथ्वी के) समुद्र की ओर छुडा लाया।"

अर्थात्—इस वेद मन्त्र में बतलाया गया है कि देवापि ऋषि ने शन्तनु राजा का परोहित बन कर यज्ञ किया और वर्षा होगई।

इसके आगे का वेद मन्त्र देखिये (अजमेर का) निरुक्त पृष्ठ १४।

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्न दीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्॥
—ऋग्वेद मं० १० अ० ८ सूक्त ९८ ऋचा ७।

व्यां०—शन्तनुः शं तनोऽस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा। पुरोहितः पुर एनं दधाति। होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायद् देवश्रुत देवा एनं शृण्वन्ति, वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनं रराणो रातिरभ्यस्तो बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत्सोऽस्मै वाच मयच्छद् बृहदुपव्याख्यातम्॥ १२॥

इस व्याख्या का भाषा भावार्थ डी. ए. वी. कालेज लाहौर के प्रोफेसर पं० राजा राम जी ने (लाहौर से प्रथम-वार प्रकाशित) निरुक्त के ११० वें पृष्ठ पर यों किया है—

"जब देवापि शन्तनु का पुरोहित होकर होता के धर्म के लिये वरा गया तो उसने (शन्तनु पर) कृपा करते हुए (वृष्टि हो ऐसे) चिन्तन किया। देवताओं से सुने हुए, वर्षा मांगते हुए (इस देवापि को वर्षा) देते हुए बृहस्पति ने इसको वाणी दी।"

अर्थात्—जब देवापि ऋषि शन्तनु राजा का पुरोहित बन कर हवन करने लगा तब देवापि को वर्षा देते हुए वाणी दी।

इस प्रकार ऋग्वेद के उक्त दोनों मन्त्रों की व्याख्या

करके निरुक्तकार यास्काचार्य ने यह प्रमाणित कर दिया कि ऋग्वेद का वर्षाकाम सूक्त देवापि ऋषि ने शन्तनु राजा के (जो कि उसका छोटा भाई था) राज्य में पानी बरसाने के लिये बनाया था इस सूक्त के सभी मन्त्र देवापि ऋषि ने बनाये हैं।

जिन निरुक्तों के प्रमाण हमने पेश किये हैं वे दोनों निरुक्त आर्यसमाजी विद्वानों ने ही छपवाये हैं। इस कारण उनके विषय में किसी भी आर्यसमाजी भाई को शंका या ऐतराज करने का स्थान नहीं रहता।

इस कारण निरुक्त की पुष्ट अटल गवाही से यह सिद्ध होता है कि वेदों में ऐतिहासिक बातें मौजूद हैं। वेद मन्त्रों के बनाने वाले एक दो नहीं किन्तु अनेक ऋषि थे उन्होंने अपने खास खास मौकों पर देवताओं, नदी, अग्नि आदि से स्तुति प्रार्थना करते हुये कविता बनाई। उस कविता में उन्हों ने अपनी इच्छानुसार अपनी विपत्ति हटाने के लिये तथा अपनी मनोकामना सिद्ध करने के लिये विषय (मैटर) रख दिया।

जैसे कि यजुर्वेद के १२ वें अध्याय के चौथे मन्त्र में वामदेव ऋषि का इतिहास है कि उसने वेद जाने और लोगों को पढ़ाये। इस मन्त्र का रचयिता वामदेव ऋषि ही है, इस बात का प्रमाण स्वय वह वेदमन्त्र देता है। उसमें 'वामदेव्यम्' शब्द मौजूद है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में विश्वामित्र ऋषि का इतिहास है।

कि अपने यजमान पैजवन राजा से पुरोहिताई का उसे धन मिला था उस धन को छीन लेने के इरादे से कुछ आदमी उसके पीछे लगगयेथे। सामने सतलज और व्यास नदी का संगम आ गया था तब नदी पार करने की इच्छा से विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति करते हुये कविता की कि हे नदियो! तुम पैरों से पार हो जाने लायक छोटी हो जाओ। ये मन्त्र विश्वामित्र ने बनाये है इसी कारण यहां 'कुशिकस्य सूनु' ऐसा अपना नाम रख दिया है क्योंकि विश्वामित्र कुशिक राजा का पुत्र था।

तथा ऋग्वेद मे देवापि ऋषि और शन्तनु राजा का इतिहास है। शन्तनु राजा के राज्य मे वर्षा कराने के लिये देवापि ऋषि ने वर्षाकाम सूक्त बनाया था तदनुसार देवापि ऋषि ने इन मन्त्रों के भीतर अपना तथा अपने भाई का नाम 'देवापिः, आर्ष्टिषेण, शन्तनवे' आदि शब्दो द्वारा रख दिया है। इस कारण सिद्ध होता है कि ये वेदमन्त्र देवापि ऋषि ने बनाये हैं।

इस प्रकार वेद देवताओं, नदी, समुद्र, बादल, अग्नि, आदि की स्तुति आदि रूप में भिन्न २ ऋषियों द्वारा बनी हुई कविता का संग्रह है। ईश्वरकृत नहीं है। वामदेव, विश्वामित्र तथा देवापि जब तक पैदा नहीं हुये थे वेदमन्त्रों में तब तक उनके मन्त्र भी नहीं थे। जब ये पैदा हुये पढ़ लिख कर शिक्षित हुए तब उन्हों ने मन्त्र बनाये जो कि वेदों में शामिल हुये।

अतएव आर्यसमाजी भाइयो! या तो आप वेदों को ईश्वरकृत मानिये तो यास्काचार्य के निरुक्त को तथा स्वामी

दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य (वामदेव ऋषि का इतिहास सूचक) को अप्रमाण झूठा कह दीजिये, अथवा वेदों को वामदेव, देवापि, विश्वामित्र आदि ऋषियों का बनाया हुआ कहिये। फिर वेद ईश्वर कृत नहीं बन सकते। दोनों बातों में आप बुरी तरह फसते हैं।

न्यायप्रिय मित्रो ! क्या ऐसी बातों का मंत्ररूप से वेदों में लिखने वाला ईश्वर हो सकता है ? आप लोगों के लिए दो ही रास्ते खुले हैं कि या तो वेदों का बनाने वाला ऋषियों को मानें और वे भी ऐसे सदाशय जिनके हृदय का चित्र उपर्युक्त वेदवाक्य खींच रहे हैं। अथवा वेदों को ईश्वर प्रणीत मान कर ईश्वर को मलिनात्मा, दयाहीन, अल्पज्ञ मानें। उसके दयालुता, सर्वज्ञता आदि गुणों को एक ओर छोड़ दीजिये, कारणभूत उपरिलिखित वेद मन्त्र मौजूद हैं। खूब विचार कर आप स्वयं इन्साफ कर लीजिये।

अब अन्त में हम कुछ ऋग्वेदानुयायी विद्वानों के वेदों के विषय में मत प्रगट करते हैं—

हिन्दी भाषा के प्रमुख प्रख्यातपत्र सरस्वती भाग ६ संख्या ६ में श्री विनायक विश्वनाथ वैद्य विख्यात के लेख का कुछ भाग—

"वेद पाठ से ही यह मालूम होता है कि वैदिक ऋषि ही वेद-प्रणेता हैं। वैदिक सूक्तों में ही प्रणेता-ऋषियों के नाम

विद्यमान है, इन्हीं ऋषियों ने अनेक प्रकार के छन्दो में स्तोत्र आदि रच कर देवताओं की स्तुति और प्रार्थना की है। यह सब उन्होने अपने अभीष्ट साधन के लिये किया था।

ऋग्वेद का कोई ऋषि कुए में गिर जाने पर उसीके भीतर पड़े २ स्वर्ग और पृथिवी आदि की स्तुति कर रहा है। कोई इन्द्र से कह रहा है आप हमारे शत्रुओं का संहार कीजिये। कोई सविता से प्रार्थना कर रहा है, कि हमारी बुद्धि को बढ़ाइये. कोई बहुत गायें मांग रहा है, कोई बहुत से पुत्र, कोई पेड, सर्प, अरण्यानी, हल, और दुंदुभि पर मन्त्र रचना कर रहा है, कोई नदियों को भला बुरा कह रहा है, कि ये हमे आगे बढ़ने में बाधा डालती है, कहीं मांस का उल्लेख है, कहीं सुरा का (शराब पीने का) है, कहीं द्यूत का (जुए का) है। ये सब बातें वेद के ईश्वर प्रणीत न होने की सूचक हैं। यजुर्वेद का भी प्रायः यही हाल है। सामवेद के मन्त्र तो कुछेक छोड कर शेष सब ऋग्वेद से चुने गये हैं।

रहा अथर्व वेद सो तो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि मन्त्रों से परिपूर्ण है। स्त्रियोंको वश करने और जुवे में जीतने तक के मन्त्र अथर्व वेद में हैं। अतएव इस विषय में विशेष वक्तव्य की जरूरत नहीं; न ईश्वर जुवा

खेलता है, न वह स्त्रैण ही है और न वह ऐसी बातें करने को औरों से प्रेरणा ही करता है; ये सब मनुष्यों ही के काम हैं; उन्होंने वेदों की रचना की है।

व्यास जी के पहले वैदिक-स्तोत्र समूह एक जगह एकत्र न था, वह कितने ही भिन्न भिन्न अंशों में प्राप्य था क्योंकि सारे ही स्तोत्र-समूह की रचना एक समय में नहीं हुई। कुछ अंश कभी बना है, कुछ कभी, किसी की रचना किसी ऋषि ने की है, किसी की किसी ने। उन सब बिखरे हुये मन्त्रों को कृष्णद्वैपायन ने एक प्रणाली में बद्ध कर दिया तभी से वेदों के नाम के आगे 'संहिता' शब्द प्रयुक्त होने लगा।

वैदिक-समय में पशु हिंसा बहुत होती थी, यज्ञों में पशु बहुत मारे जाते थे, इनका मांस भी खाया जाता था। उस समय में कई पशुओं का मांस खाद्य समझा जाता था।" इत्यादि—

प्रिय आर्य बन्धुओ ! उपर्युक्त लेख का लिखने वाला मनुष्य भी कट्टरवेदानुयायी है, किन्तु साथ ही विचारशील और निष्पक्ष भी है, अन्धविश्वासी नहीं है। क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि आप भी इस विषय पर पूर्ण विचार करेंगे।

वेदों पर ला० लाजपतराय जी की सम्मति

स्वर्गीय श्रीमान पंजाबकेसरी ला० लाजपतराय जी जिस

प्रकार भारतवर्ष के प्रमुख नेता थे। उसी प्रकार आर्यसमाज के भी गणनीय नेता थे। लाहौर का डी. ए वी. कालेज आपके ही परिश्रम का फल है। उन्होने वेदों के विषय में अपना वक्तव्य प्रकट किया था जो कि लाहौर से निकलने वाले उर्दू मिलाप में २७ अक्टूबर १९३५ को प्रकाशित हुआ था, वह यों है।

मैं वेदों को सबसे कदीम (पुरानी) मुतबर्रिक (पूज्य) किताब समझता हू। मेरे सामने अगर कोई हिन्दू वेदों की तौहीन करे तो मुझे बहुत बुरा मालूम होता है। लेकिन दुनियां में मैं किसी किताब को इलहामी (ईश्वरीय) नहीं मानता। जब तक मैं आर्य समाज का मेम्बर था मैं इसको इलहामी मानता था। इस वक्त और अब भी आर्यसमाज में ऐसे लीडिंग मेम्बर (प्रभावशाली सभासद) है जो वेदों को इलहामी (ईश्वरकृत) नहीं मानते। ये मेम्बर दोनो पार्टियों में हैं और वे सामाजिक संस्थाओं में मुअज़्ज़िज (ऊंचे) ओहदो पर है।

मैं भी चाहता तो जमीर को (आत्मा को) दबा कर मेम्बर रह सकता था मगर ज्यों ही मेरे ख्याल में तबदीली (परिवर्तन) आई मैं ने इसका पब्लिक इजहार कर दिया और समाज से अलग होगया। मेरी राय मं $\frac{9}{10}$ हिन्दू बल्कि इससे भी ज्यादा वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं और वेद हिन्दुओं की सब से पुरानी धार्मिक और कौमी पुस्तकें है। मैं यही समझता हूं कि हर एक हिन्दू का फर्ज (कर्तव्य) है कि इनकी भारी ताजीम करे

मगर मैं बहुत से हिन्दू विद्वानों की तरह यह जरूरी नहीं समझता कि जरूर इनको इलहामी (ईश्वरीय) किताब ही माना जाय। चुनाचे मेरे खयाल में लोकमान्य पं० बालगङ्गाधर जी तिलक भी वेदों को इलहामी नहीं मानते।"

श्रीमान ला० लाजपतराय जी वेदो को पूज्य प्राचीन धार्मिक मानते थे किन्तु साथ ही वे उनको ईश्वरीय ग्रन्थ न मान कर ऋषिप्रणीत ही समझते थे। उनका यह विचार किसी द्वेष, दम्भ, लोभ आदि के कारण नहीं किन्तु अपनी सत्य खोज तथा पक्के निर्णय के कारण ही पैदा हुआ था। इस कारण आपका विचार आर्यसमाज को मनन करने योग्य है।

एक और सम्मति

हिन्दी भाषा के आचार्य श्रीमान प० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के सम्पादकत्व मे इण्डियन प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली प्रसिद्ध हिन्दी साहित्य पत्रिका सरस्वती (सितम्बर १९२२) मे श्रीयुत सोऽहंशर्मा द्वारा 'वेद क्या भगवद् वाणी है ? शीर्षक लेख छपा है। उसमे लेखक ने अनेक प्रमाणो से सिद्ध किया है कि वेद के रचयिता भिन्न २ ऋषि है, उनको बनाने वाला परमात्मा नहीं है। सम्पादक जी ने लेखक के विरुद्ध कोई टिप्पणी नहीं की है। हम उस लेख को यहां पर पूर्ण न रख कर उसके बीच का कुछ अंश रखते है। पाठक ध्यान से अवलोकन करें।

"इस बदले हुये जमाने मे भी अभी तक पाण्डेय रामावतार शर्मा के सदृश स्वतन्त्र स्वभाव के पण्डित देख पडते हैं। स्वतन्त्र स्वभाव से हमारा मतलब ऐसे स्वभाव वाले सज्जनों से है जो मन की बात, समाज की समझ के प्रतिकूल होने पर भी, निःशंक कह डालने का साहस कर सकें। बहुत समय बाद आज हमे पाण्डेय जी के सदृश एक और भी साहसी पंडित का पता चला है। आपका नाम है **उमेशचन्द्र विद्यारत्न** आपका लिखा हुआ, 'वैदिकरहस्य' नामक एक लेख बंगला भाषा के मासिक पत्र 'भारतवर्ष' की गत असाढ़ मास की संख्या मे निकला है। उसमें आपने तर्क द्वारा यह दिखलाने की चेष्टा की है कि **वेद भगवद्वाणी नहीं। वह और लेखों, शास्त्रों की तरह मनुष्यवाणी है।**

अनन्त शक्ति सम्पन्न ईश्वर ने चार वेद, दो बाइबिल और एक कुरान लिखने या बनाने का आडम्बर क्यो किया? व्यर्थ ही अपना काम क्यो बढ़ाया? सब के लिये एक सूर्य की तरह एक ही धर्मग्रन्थ क्यों न बना दिया। हिन्दू, मुसलमान, किरिस्तान, गोंड, भील, मुंडा, गारो, कूकी आदि लोगों के लिये उसने अलग २ सूर्य तो बनाये नहीं। धर्म ग्रथ ही क्यों अलग अलग?

भाइयो! *स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने शिष्योंसे कह* गये है और लिख भी गये हैं कि हिन्दुओं के वेद ही प्रकृत

ईश्वरवाणी है, कुरान और बाइबिल दोनों ही झूठे हैं । यदि यही बात है तो ईश्वर ने किरिस्तानों और मुसलमानो को निजकृत धर्मग्रंथ न दे कर उन्हें उस से वंचित क्यों रक्खा ? उसके लिये जैसे हिन्दू वैसे ही किरिस्तान और वैसे ही मुसलमान । हिन्दुओं के विषय में उसका पक्षपात कैसा ? हिन्दुओंने क्या उसको घूस दी थी या उसे मालपूवे और मोहन भोग खिलाया था जो वेद उन्हीं को देकर औरों के साथ उसे अन्याय करना पड़ा।

यदि वह ईश्वर अपनी वाणीमयी ग्रन्थावली को सूर्य की कमर में मजबूती से बांध कर लटका देता तो जैसे जैसे सूर्य चक्कर लगाता वैसे ही वैसे सब देशों के लोग खुदाई (ईश्वरीय) या कुरान का पाठ करके अपना अपना धर्म कर्म ठीक कर लेते।

भाई बात यह है कि क्या वेद, क्या बाइबल, क्या कुरान इनमे से कोई भी ग्रन्थ ईश्वरीय वस्तु नहीं—कोई भी ग्रन्थ ईश्वरनिर्मित नहीं। मनुष्यों ही ने अपने अपने बुद्धिवल से अपने अपने धर्म ग्रन्थों की रचना की है। उनका सम्मान बढ़ाने के लिये ही यह बात प्रचलित कर दी है कि वेद अपौरुषेय है, कुरान, खुदा का कलाम है, बाइबल ईश्वर की वाणी है। यदि ज्ञानस्रोत भगवान के मुख या पादद्वय से बहता तो क्या

संसार में फिर भी कोई पापी रह जाता? बात यह है कि ज्ञान मनुष्य का स्वोपार्जित वस्तु है; वेद बाइबल और कुरान भी स्वोपार्जित हैं।

जो भगवान शिशु-जन्म होने के पहले ही मातृस्तनों मे दूध उत्पन्न कर देता है उसी दूरदर्शी भगवान ने मनुष्य सृष्टि के साथ ही अपने बनाये वेद, बाइबल और कुरान क्यों न भेज दिये भाइयो! ये सब ढकोसले मात्र है। इन पर विश्वास न कीजिये। वेद, बाइबल कुरान में से कोई भो भगवान, को रचना नहीं। वे सभी मनुष्यप्रणीत हैं जिन नरों और नारियों ने उनको रचना को है उनके नाम खुद वेदों में विद्यमान हैं इस अमोघ प्रमाणावली के रहते आप क्यों पुरानी कपोलकल्पना पर विश्वास करते है?

जिन हिन्दुओ ने वेद को कभो आंख से भी नहीं देखा और जो इतना भी नहीं जानते कि वेद चपटे हैं या गोल, वे भी वेद को ईश्वरप्रोक्त कहने मे लोलजिह्व देखे जाते है। यह सब अन्धभक्ति की महिमा है।

मानव मंडली उत्पन्न होने पर धीरे धीरे जब भाषा की सृष्टि हुई। और विशेष विशेष आर्यो के मन मे कवित्व का उन्मेष हुआ, तब उन्हों ने श्लोकरचना या कविता प्रणयन का आरम्भ किया। वेदमंत्र उनकी उसी कविताका संग्रह है।

आर्यों की वह अवस्था आदिम थी जिसमें उन्हों ने वेद रचना की है उसी के अनुकूल उन्हो ने कविता भी की है। विषय सम्बन्ध मे वह एक प्रकार की खिचडी है। कहीं धर्म कर्म को बात है, कहीं इतिहास की, कहीं कलाकौशल की, कहीं लड़ाई झगडे की, कहीं शिशुपालन की और कहीं खेती की।

वेदो मे धर्म की बातो के सिवा घरद्वार, खेत खलिहान, उद्योग धन्धा, पशुपालन आदि के भी वर्णन है। यही क्यों? उनमें हिंसा, द्वेष, मारकाट, भ्रान्ति और प्रमाद भी है। भ्रान्त मनुष्य के सिवा क्या अभ्रान्त ईश्वर भी ऐसी बातें कह सकता है।

हे कान, आंख और हृदय रखने वाले भाइयो! क्या इन सब वेद वाक्यों को अब भी तुम भगवान की वाणी मानने को तैयार हो? विश्वास कीजिये, समस्त मन्त्र मनुष्यों ही की रचना हैं। जिस समय इनकी रचना हुई थी उस समय हमारे पूर्वजों का मन उतना उदार न था। इसी से इन प्रकृत वेद मंत्र में हिंसा, द्वेष और शत्रु भाव की बातें पाई जाती हैं।

अतएव भाइयो! परंपरागत अपनी इस भ्रान्ति को अब तो दूर कर दो कि वेद अपौरुषेय है। वेद भगवान का निःश्वास है वेद ईश्वरप्रणीत है, अथवा ईश्वर ही ने प्रत्यादेश द्वारा ऋषियों

के मुंह से वेद का प्रकटीकरण किया है। ध्रुवसत्य मानोकि वेद मनुष्यप्रणीत है। उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये ही ईश्वर पर उनकी रचनाका आरोप किया गया है। बस बात इतनी ही है और कुछ नहीं। रहे ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद्, सो ये सब वेद के व्याख्या ग्रन्थ हैं।"

यह लेख यद्यपि श्रीयुत सोऽहं शर्मा द्वारा लिखा गया है किन्तु इस लेख से लेखक के सिवाय अन्य तीन विद्वान भी सम्मत हैं। १-श्रीमान साहित्याचार्य पं० रामावतार झा पांडेय एम० ए०, २-श्रीमान प० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी जिन्होंने कि उक्त लेख पर कोई टिप्पणी नहीं की, ३-श्रीयुत पं० उमेशचन्द्र जी विद्यारत्न। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये चारो ही विद्वान ब्राह्मणवंशज हैं तथा वेदानुयायी हैं। वेदों पर इनकी सम्मति किसी विरोधी कुत्सित भाव से नहीं किन्तु सत्य, निष्पक्ष गवेषणा बुद्धि से उत्पन्न हुई है। इसको ध्यान पूर्वक देख कर आर्यसमाज को अपने खयाल पर परिवर्तन लाना चाहिये, केवल लकीर का फकीर ही न बना रहना चाहिये।

काशी के प्रसिद्ध वेदानुयायी विद्वान महामहोपाध्याय पं० राममिश्र जी अपने व्याख्यान में कहते हैं कि वेदों के यदि पांच भाग कल्पना किये जायें तो प्रायः सवा तीन भागों में हिंसा की कथा आपको मिलेगी।

इसी प्रकार अन्य अनेक विद्वानों ने वेदानुयायी होते हुए भी वेदों के आधार से पशु हिंसा, मांस भक्षण, मदिरापान आदि कार्य में वेदों की आज्ञा बतलाई है। जब कि वेदों के अन्दर इस प्रकार असभ्य, अनुचित निर्दयतापूर्ण बातें भरी हैं। तब वेद किस आधार से ईश्वर प्रणीत हो सकते हैं? क्या ऐसी भद्दी बातो के संगठित समूह रूप वेदों को धार्मिक ग्रन्थ समझ कर सब शिक्षाओं का भंडार मान लेना अन्ध श्रद्धा नहीं है? क्या ऐसे लोकानिन्दित बातों से भरे हुए वेदों को न मानने के कारण जैन धर्म विवेकी और परीक्षा प्रधानी नहीं है? भाइयो! ख्याल करो उस जमाने को जब कि यज्ञों में वेद मन्त्रों को बोलते हुए सैकड़ों हजारों गाय, बकरी घोड़ा यहां तक कि मनुष्य भी मार कर होमे जाते थे, खून की नालियां बहती थीं, नदियों का पानी कोसों तक लाल हो जाता था, उस समय उस राक्षसी वैदिक यज्ञों से निरपराध असंख्य पशुओं का अमूल्य जीवन-धन सुरक्षित करने के लिये इस जैन धर्म ने बीड़ा उठाया था और अपनी न्यायनीति की हुंकार से अपने उद्देश्य को सफल भी कर दिखाया, जिससे कि वह राक्षसी जमाना सदा के लिये सो गया और वेदानुयायियो ने भी जैनधर्म के **अहिंसापरमोधर्मः** सिद्धान्त को अपनाया। इस ऐतिहासिक बात को लोकमान्य तिलक ने स्वयं अपने व्याख्यान में स्वीकार किया है। अतः महाशयो! न केवल वेदानुयायियों को किन्तु समस्त भारतवर्ष को जैन धर्म का

अहसानमन्द (आभारी) होना चाहिये कि उसने इस पवित्र भूमि से राक्षसी लीला हटाई। आज भी वेदोंका पूर्ण विश्वासी कोई भी मनुष्य वेदों की साक्षी देकर छाती ठोकते हुये यह नहीं कह सकता कि गो वध करना अनुचित तथा धर्म विरुद्ध है, क्योंकि हम इसके विरुद्ध आज्ञा वाले वेद मन्त्रों को ऊपर दिखला चुके है। **जैनधर्म ने जब से इसके विरुद्ध बीड़ा उठाया है, तभी से पूर्ण तौर से अहिंसा का प्रचार हुआ है।**

इस सम्पूर्ण लेखका सारांश यह है कि वेद अनेक ऋषियों के भिन्न भिन्न समय मे बनाये गये श्लोकों का संग्रह है। उसमें अग्नि की प्रशंसा, नदी की निन्दा, सोमरस (मदिरा) पान, मांस भक्षण, यज्ञार्थ पशुबध आदि बातो के सिवा और कोई महत्वशाली बातें नहीं है। लिपि लेखन का प्रचार सम्भवतः रामचन्द्र जी के जमाने से चला है और वेदों के मन्त्ररचयिता-ऋषि भी इनसे प्राचीन नहीं है। अत वेदों की उत्पत्ति अधिक से अधिक प्राचीन यहीं तक हो सकती है। जैनधर्म उससे पहले भी भूमण्डल पर विद्यमान था, इसको हम ने सप्रमाण जैनधर्म के उदय काल वाले प्रकरण मे बतलाया है। अतः जैनधर्म वैदिक धर्म से प्राचीन है; अर्वाचीन नहीं। वेदों की निन्दा प्रथम ही हजारों शाखायें बनाकर स्वयं वेदानुयायियों ने ही की है। कोई किसी वेद को अच्छा कोई किसी को अच्छा, कोई किसी को

बुरा और कोई किसी वेद को बुरा कहता है। वर्तमान में स्वामी जी के भाष्य की कोई तारीफ करता है, कोई सायणाचार्य, महीधर आदि के भाष्य को ठीक मानता है, कोई ब्राह्मण आदि को प्रामाणिक कहता है कोई अप्रमाणिक, कोई उसे अहिंसा में घसीटता है, तो कोई उसे हिंसा का पोषक कहता है, स्वामी जी दोनों बातें कहते हैं। फिर यदि जैनधर्म उसको अप्रामाणिक कहकर ऐसी झूठी झंझटों से बचता है, तो उसका यह कार्य क्योंकर प्रशंसनीय नहीं ? और वही अकेला वेद निन्दक क्यों हुआ ? तथा वेदानुयायियों में कौन किस आधार से सत्य समझा जाय ?

महाशयो ! आप बुद्धिमान, विचारशाली हैं, साथ ही अन्ध विश्वासी भी नहीं हैं। फिर हम आपसे क्यों न विनीत निवेदन करें कि आप कुछ देर के लिये हमारा तथा स्वामी जी का वचन-विश्वास छोड़ कर स्वयं वेदों को देखिये, कम से कम आप हिंदी भाषा का अर्थ तो समझ ही जांयगे, बस ! सारी बातों का आप स्वयं निर्णय कर सकते हैं। हाथ कंगन को आरसी की क्या जरूरत। बस ! यह विषय इतना ही बहुत है प्रेम के साथ पढ़ कर विचार कीजिये, हम ने इस लेख लिखने के पहले आपके विद्वान विद्यालकारों से आवश्यक विचार कर यह विषय समझ भी लिया था। अस्तु—

× × ×

[१६]

स्वामी जी ने स्याद्वाद समझा ही नहीं

प्रियवर सज्जनो ! अब हम आपके सामने एक ऐसा विषय लाते हैं जो कि जैन दर्शन का मूल सिद्धान्त है और जिस पर स्वामी जी बिना समझे अपनी लेखनी चला बैठे हैं। इस विषय का नाम 'स्याद्वाद' है। 'सप्तभंगी तथा अनेकान्तवाद' भी स्याद्वाद के समानार्थक दूसरे नाम हैं।

जब अन्य दर्शन पदार्थों के किसी एक स्वभाव को लेकर एकान्त पक्ष पकड लेते हैं कि ये 'पदार्थ नित्य ही हैं' अथवा 'ये पदार्थ अनित्य ही हैं' इत्यादि रूप से पदार्थों का स्वरूप बतलाते हैं तब जैन दर्शन कहता है कि किसी दृष्टि से 'पदार्थ नित्य हैं' और किसी निगाह से 'ये अनित्य भी हैं' इस तरह कह कर जैन दर्शन अनेकान्तवाद की जड जमाता है। इस तरह अन्य दर्शनो में तथा जैन दर्शन मे सिर्फ ही और भी का अन्तर है अन्य दर्शन कहते है कि पदार्थ ऐसा ही है तब जैन दर्शन कहता है कि किसी तरह ऐसा है, किन्तु अन्य दूसरी अपेक्षा से वैसा भी है। मूल सिद्धान्त के इस 'ही' और 'भी' शब्द से आगे बहुत भारी अन्तर पड जाता है।

कोई भी चीज ले लीजिये उसमें दो बात अवश्य पाई जावेंगी—गुण, और पर्याय। गुण चीज का वह हिस्सा है जो कि सदा उसमें मौजूद रहता है, कभी नष्ट नहीं होता। तथा

पर्याय (हालत) उसे कहते हैं जो हमेशा बदलती रहे, पहली पर्याय नष्ट हो दूसरी पैदा हो जावे। उदाहरण के लिये एक आम को ले लीजिये उसमे रङ्ग, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण मौजूद हैं। ये गुण आम मे हमेशा बने रहेंगे। आम में हमेशा रंग रहेगा, कभी बिना रंग न होगा। क्योंकि वह आंख से दीखता रहेगा। उसमें रस भी सदा मिलेगा क्योंकि जब जीभ चखेगी तभी आम मे स्वाद आवेगा। इसी तरह गन्ध (बू) तथा स्पर्श (कड़ा, नर्म, ठण्डा, गर्म आदि छूने का विषय) भी उसमें हमेशा पाया ही जायगा। किन्तु पर्यायें उसमे हमेशा बदलती रहेंगी। कभी वह हरा है तो बदलते बदलते वह पीला हो जायगा। कभी खट्टा था तो पलटते पलटते वह पीला हो जायगा। कभी खट्टा गन्ध थी तो कभी मीठी खुशबू आजायगी इसी तरह कभी बहुत कड़ा था तो पलटते पलटते वह बहुत नर्म हो जायगा। गुण पर्यायो का ऐसा ढंग प्रत्येक पदार्थ मे चाहे वह जड़ हो या जीव हो पाया जाता है।

इस कारण आम के विषय मे विचार दो प्रकार से हो सकता है। एक तो यह कि आम शुरू से अखीर तक एक ही था, पेड़ पर फूल से निकल आने पर कच्ची हालत में भी आम था, धीरे धीरे बढ़ता रहा उसके भीतर गुठली पैदा होती रही वह नर्म से कड़ी होती गई तब भी वह आम ही था। जब वह पक गया पीला होगया खट्टे से मीठा होगया कड़े से नर्म होगया तब भी वह आम ही रहा, और कुछ नहीं होगया।

दूसरी तरह यदि आम का विचार करें तो नतीजा बिलकुल इससे उलटा निकलता है, क्योंकि जो आम शुरुआत की हालत में था वह आम मिट गया, गुठली वाला कच्चा आम दूसरा ही है क्योंकि दोनों की हालतें जुदी जुदी हैं। उनके रंग, स्वाद, गूदा आदि बातों में अन्तर है। तथा आम की पकी हुई आखिरी हालत उन सब हालतों से अलग है इस कारण पके हुए आम को वही आम समझना भी गलत है क्योंकि उसके रंग, स्वाद, रस आदि उसमें दूसरे ही तरह के हैं। इस कारण आम सामान्य तौर से एक ही है किन्तु विशेष तौर से वही आम एक नहीं है अनेक हालतों की अपेक्षा से अनेक आम हैं।

सोने का कड़ा था उसको तोड़ कर सुनार ने हार बना दिया। पहले वह हाथ में पहना जाता था उसका नाम कड़ा था अब उसकी हालत पलट गई वह अब हाथ का भूषण न रह कर गले में पहनने का आभूषण बन गया, नाम भी उसका कड़े के बजाय हार हो गया। यहां पर सोने के गुणों की अपेक्षा से विचार करें तो सोना एक नित्य पदार्थ है क्योंकि उसके पीला रंग, वज़न आदि गुण जो पहले कड़े की हालत में थे सो अब हारकी हालत मे भी है, सोना पहले भी था अब भी है, सोने का खरीदार उसको पहले भी खरीद सकता था अब भी ले सकता है. परन्तु जब हम विशेष अपेक्षा से विचार करें तो वह सोना अनित्य है क्योंकि पहले वह कड़े का सोना था अब हार का सोना है। जिस मनुष्य को हार की आवश्यकता है वह इस

समय उसका अच्छा मूल्य देगा किन्तु जिसको कडे की आवश्यकता है वह उसको अब खरीदेगा भी नहीं। इस प्रकार एक ही सोना दो भिन्न २ अपेक्षाओं से नित्य भी और अनित्य भी है।

महात्मा मोहनदास जी गान्धी श्रीयुत ला० करमचन्द्र जी गान्धी की अपेक्षा पुत्र हैं किन्तु देवीदास जी गान्धी की अपेक्षा पिता है। अपने पितामह की अपेक्षा पौत्र (नाती) हैं तो अपने पोते की अपेक्षा बाबा है किसी अपेक्षा से वे मामा भी हो सकते है और किसी अपेक्षा से वे भानजे भी हैं। श्रीयुत् विट्ठलभाई पटेल की अपेक्षा वे आयु में छोटे है, किन्तु सरदार वल्लभभाई पटेल की अपेक्षा वे बड़े हैं।

इस प्रकार एक ही गान्धी जी भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न भिन्न तरह के हैं—छोटे भी हैं, बड़े भी हैं, पिता भी हैं, पुत्र भी हैं, बाबा भी हैं, पोता भी हैं मामा भी हैं, भानजे भी हैं। ये सभी बातें यद्यपि एक दूसरे से विरुद्ध हैं, किन्तु रहती वे सब एक गांधी जी में हैं। गान्धी जी को यदि हठ से एक रूप ही मान लिया जावे तो काम नहीं चल सकता, फैसला झूठा हो जाता है क्योंकि यदि यों कह दिया जावे कि गान्धी जी देवीदास के पिता ही हैं' तो गान्धी जी ठीक साबित नहीं हो सकते क्योंकि वे सर्वथा पिता ही नहीं है किन्तु श्रीयुत करमचन्द्र जी गान्धी की अपेक्षा पुत्र भी हैं।

इस प्रकार भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से प्रत्येक पदार्थ अनेक रूप सिद्ध होता है। इस तरह निर्णय करने का नाम ही 'स्याद्वाद' है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथंचित्' यानी 'किसी अपेक्षा से' है। अर्थात—पदार्थों के विषय में नित्यत्व, अनित्यत्व का विवेचन सर्वथा न करके किसी एक अपेक्षा से करना कि 'इस अपेक्षा से यह नित्य है, इस अपेक्षा से अनित्य है' इत्यादि स्याद्वाद है। प्रश्न के अनुसार यही स्याद्वाद सात प्रकार से कहता जा सकता है इस कारण सप्तभंगी भी इसका दूसरा नाम समझना चाहिये। सप्तभंगी का अर्थ सात भंगो का समुदाय है। सात भङ्ग इस प्रकार है—

१—स्यादस्ति अर्थात किसी प्रकार से पदार्थ है। २—स्यान्नास्ति यानी किसी और अपेक्षा से पदार्थ नहीं है। ३—स्यादस्तिनास्ति यानी पदार्थ किसी अपेक्षा से है भी तथा नहीं भी है। ४—स्यादवक्तव्य अर्थात किसी अपेक्षा से पदार्थ शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता। ५—स्यादस्ति अवक्तव्य यानी पदार्थ किसी अपेक्षा से शब्द से न कहने योग्य होने पर भी, है। ६—स्यान्नास्ति अवक्तव्य—पदार्थ किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होता हुआ, नहीं भी है। ७—स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य अर्थात किसी अपेक्षा से पदार्थ अवक्तव्य होता हुआ, है भी नहीं भी है।

इन सात भङ्गों को उदाहरण से यों समझ लीजिये कि

स्वामी दयानन्द जी के विषय में प्रश्न हों तो उत्तर यों मिलेंगे—

१—स्वामी दयानन्द जी कथंचित् इस समय भी विद्यमान हैं क्योंकि उनका आत्मा नित्य है, कहीं न कहीं है, नष्ट नहीं हो गया।

२—स्वामी जी कथंचित नहीं भी हैं क्योंकि स्वामी दयानन्द कहलाने वाला उनका मानव शरीर ४४—४५ वर्ष पहले अग्नि से जल कर भस्म होगया।

३—स्वामी जी कथंचित हैं भी, नहीं भी हैं क्योंकि वे अपने अजर अमर नित्य आत्मा की अपेक्षा से तो अब भी हैं किन्तु विनश्वर मनुष्य शरीर की अपेक्षा नहीं है।

४—स्वामी दयानन्द जी कथंचित अवक्तव्य (नहीं कहे जाने योग्य) हैं क्योंकि उनकी मौजूदगी और गैर मौजूदगी को एक साथ कहने वाला कोई शब्द नहीं। जो शब्द हैं वे क्रम क्रम से तो कहते हैं एक साथ नहीं कह सकते।

५—स्वामी दयानन्द जी कथंचित अस्ति अवक्तव्य हैं क्योंकि अस्तित्व नास्तित्व सूचक किसी भी शब्द द्वारा एक दम कहे नहीं जा सकते इस प्रकार अवक्तव्य होते हुए भी अपने नित्य आत्मा की अपेक्षा इस समय भी हैं।

६—स्वामी दयानन्द जी कथंचित नास्ति अवक्तव्य हैं अर्थात् वे अवक्तव्य होते हुये भी मानव शरीर की अपेक्षा इस समय नहीं हैं।

७—स्वा० दयानन्द जी सरस्वती कथंचित अस्ति नास्ति अव-

क्तव्य है क्योंकि एक साथ किसी शब्द से (मौजूद गैर मौजूद रूप) कहे नहीं जा सकते. किन्तु फिर भी क्रमशः आत्मा की अपेक्षा स्वामी जी इस समय हैं मनुष्य शरीर की अपेक्षा नहीं हैं।

इस प्रकार सप्तभंगी का यह संक्षेप विवेचन है। इसके एक एक भंग को खुलासा सरल तौर पर समझाने के लिये विस्तार चाहिये जोकि हम यहां पर अनावश्यक समझ कर छोड़े देते हैं। चूंकि यह एक प्रकार से रूखा दार्शनिक विषय है। इस कारण पाठकों को अरुचिकर भी होगा। इनका विस्तृत वर्णन अष्टसहस्री, सप्तभंगी तरंगिणी आदि ग्रन्थों में है। विद्वानों से निवेदन है कि एक बार इन ग्रन्थों का अवश्य अवलोकन करें।

यद्यपि ऊपर से 'स्याद्वाद' ठीक नहीं जंचता क्योंकि अस्तित्व नास्तित्व, वक्तव्य अवक्तव्य आदि परस्पर विरुद्ध धर्म एकत्र रहें यह असंभव दीखता है, किन्तु विचार करने पर भिन्न २ अपेक्षाओं से वे सभी धर्म एक ही पदार्थ में सिद्ध हो जाते हैं, जैसे पीछे दृष्टान्तों में बताया जा चुका है। बौद्ध, सांख्य, वेदान्त, आदि दर्शनों के अनित्यवाद, नित्यवाद, अद्वैतवाद आदि सिद्धान्त इस स्याद्वाद से खंडित हो जाते हैं।

शंकराचार्य ने अपने शांकर भाष्य में इस स्याद्वाद का खंडन करने के लिये प्रयास किया, किन्तु वे सफल नहीं हुये। कहना पड़ेगा कि शंकराचार्य स्याद्वादको समझ ही नहीं पाये थे

इस बातको हम ही नहीं, किन्तु शाङ्करमतानुयायी निष्पक्ष विद्वान भी कहते हैं। देखिये—

श्रीयुत महामहोपाध्याय सत्यसम्प्रदायाचार्य पं० स्वामी रामिमिश्र जी शास्त्री, प्रोफेसर संस्कृत कालेज बनारस अपने भाषण मे कहते है कि—

'मैं कहां तक कहूं बड़े २ नामी आचार्यों ने (शंकराचार्य सरीखोंने) अपने ग्रन्थोंमें जो जैन-मत का खराडन किया है वह ऐसा किया है जिसे सुन देख कर हंसी आती है। 'स्याद्वाद' यह जैन धर्मका एक अभेद्य किला है। उसके अन्दर वादी प्रतिवादियों के मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते।"

महामहोपाध्याय श्रीमान पं० गंगानाथ जी झा एम० ए० डी० एल० एल० इलाहाबाद स्पष्ट कहते हैं—

"जब से मैं ने शंकराचार्य द्वारा जैनसिद्धांत का खंडन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धांत में बहुत कुछ है जिसको वेदांत के आचार्य ने नहीं समझा। और जो कुछमैं अब

तक जान सका हूं उससे मेरा यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि यदि वह (शंकराचार्य) जैन धर्म का उसके असली ग्रन्थों से देखनेका कष्ट उठाते तो उनको जैनधर्म के विरोध करनेकी कोई बात नहीं मिलती।"

प्राच्य विद्यामहार्णव प्रख्यात पुरातत्ववेत्ता डाक्टर भांडारकार ने सप्तभङ्गीतरङ्गिणी नामक जैनग्रन्थ देखकर यह आशय प्रकट किया है कि—

शङ्कराचार्य जी ने सप्तभङ्गी को समझा नहीं था, उन्हों ने उसे बिना समझे खण्डन करने का साहस किया।"

श्रीयुत् फणि भूषण जी अधिकारी एम० ए०, प्रोफेसर दर्शनशास्त्र हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस अपने २६—४—२५ के भाषण मे स्पष्ट कहते हैं कि—

"जैनधर्म में इस स्याद्वाद शब्द द्वारा जो सिद्धान्त झलक रहा है उसको न समझ कर उसके सामने और किसी भी बात का इतना दोषपूर्ण तथा इतना हेर फेर वाला अर्थ नहीं समझा गया है यहां तक कि विद्वान शङ्कराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हो सकते कि उन्हों ने इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात

अल्पयोग्यता वाले लोगों में क्षम्य हो सकती थी, परन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान विद्वान में इसे सर्वथा अक्षम्य ही कहूंगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूं। ऐसा जान पड़ता है कि उन्हों ने इस धर्म के जिसके लिये वे अनादर से "विवसनसमय" अर्थात् नग्न लोग का सिद्धान्त ऐसा नाम रखते हैं, दर्शनशास्त्रों के मूल ग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह न की। स्याद्वाद का अर्थ यही ज्ञानात्मक निष्पक्षता है जिस के बिना कोई भी वैज्ञानिक तथा दार्शनिक खोज सफल नहीं हो सकती"।

शंकराचार्य को अपना पूज्य गुरू मानने वाले उक्त दार्शनिक विद्वान स्याद्वाद को सत्य. अकाट्य सिद्धान्त हृदय से स्वीकार करते हैं। शंकर भाष्य में जो शङ्कराचार्य ने स्याद्वाद का खण्डन करने का प्रयास किया है वह उन्होंने ठीक नहीं किया है। स्याद्वाद के रहस्य को न समझ कर ही वे व्यर्थ खण्डन का लेख लिख गये हैं। इस बात को भी उक्त निष्पक्ष विद्वान हृदय से स्वीकार करते हैं।

महानुभावो! जिस स्याद्वाद सिद्धान्त को शंकराचार्य सरीखे उद्भट विद्वान नहीं समझ पाये उस को स्वामी दयानन्द

जी नहीं समझ पावें यह कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु सत्य समालोचक विद्वान का कर्त्तव्य है कि जिस विषय को वह न समझ पावे उसकी समालोचना में व्यर्थ टांग न अडावे। स्वामी जी ने ऐसा नहीं किया, इस कारण वे इस दोष से नहीं छूट सकते।

स्याद्वाद सिद्धान्त को न समझ कर ही स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश के ४४० वें पृष्ठ पर लिख दिया है कि—

"यह कथन अन्योन्याभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। इस सरल प्रकरण को छोड कर कठिन जाल रचना केवल अज्ञानियों को फंसाने को होता है।"

अन्योन्याभाव, साधर्म्य वैधर्म्य की पहुँच कहां तक है और स्याद्वाद सिद्धान्त क्या है खेद है कि इस बात को स्वामी जी नहीं समझ पाये और झट गलत नतीजा निकाल बैठे। अच्छा होता यदि वे स्याद्वाद को अन्योन्याभाव और साधर्म्य वैधर्म्य में चरितार्थ कर दिखा जाते, किन्तु कहना जितना सरल है करना उतना ही कठिन है। अपने शिर से बला टालने के लिये आप लिखते हैं कि यह स्याद्वाद तो अज्ञानियों के फसाने का जाल है। भाई साहिब! यह अज्ञानियो के फंसानेका जाल नहीं है क्यों-कि अज्ञानी तो स्याद्वाद तक पहुच ही न पावेगा फिर वह वेचारा फंसेगा ही क्या? हां! यह कदाचित् ठीक भी हो सकता कि स्याद्वाद ज्ञानी विद्वानो को फंसाने का जाल है क्योंकि जो विद्वान एक वार अच्छी तरह से स्याद्वाद को समझ लेगा वह फिर उसकी सत्यतौर का हामी रहेगा।

अन्य दर्शनों में स्याद्वाद का कुछ अनुकरण

अब हम यहां पर यह विषय रखते हैं कि अनेक सुप्रसिद्ध प्रख्यात अजैन दार्शनिक विद्वानों को भी अपने ग्रन्थों में स्याद्वाद का अनुकरण करना पड़ा है। श्रीमान पं० हंसराज जी शास्त्री ने अभी **दर्शन और अनेकान्तवाद** नामक एक पुस्तक लिखी है उसमें आपने इस विषय का खूब खुलासा किया है। उसी आधार पर यहां कुछ प्रकाश डाला जाता है।

पातञ्जलयोगभाष्य में महर्षि व्यास बौद्धदर्शन द्वारा माना गई धर्म धर्मी की एकान्त भिन्नता का खण्डन करते हुये विभूतिपाद सूत्र १३ में लिखते हैं कि—

"अयमदोष. कस्मात् एकान्तानभ्युपगमात्"

अर्थात्—यह दोष नहीं है, क्योंकि हम एकान्त नहीं मानते यानी द्रव्य एक तरह से नित्य है और किसी अपेक्षा से द्रव्य अनित्य भी है। इस कारण धर्म धर्मी में भिन्नता भी है अभिन्नता भी है। इत्यादि।

इस वार्तिक पर **वाचस्पतिमिश्र** ने खुलासा टीका की है। इसी प्रकार इन विद्वानों ने और भी अनेक स्थानों पर एकान्तवाद का खण्डन करते हुये अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) का जोरदार समर्थन किया है।

वेदान्तदर्शनके प्रसिद्ध ग्रन्थ **ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ के "तत्तु-समन्वयात्"** (१—१—४) सूत्र का भाष्य करते हुए प्रख्यात

विद्वान भास्कराचार्य ने लिखा है—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना ।

हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मनाभिदा ॥

(पृ० १८)

अर्थात—ब्रह्म कार्यरूप से भिन्न २ इस कारण अनेक रूप है और कारण रूप से एक एव अभिन्नरूप है । जैसे कि कुण्डल कटक आदि सोने की अपेक्षा से एक अभिन्नरूप है किन्तु कटक कुण्डलादि रूप से अनेक और भिन्नरूप है ।

शङ्कराचार्य अपने भाष्य मे लिखते है—

"अनन्तावयवो जीवस्तस्य त एवावयवा अल्पे शरीरे सकुचेयुर्महति च विकसेयुरिति ।" २—२—३४ ।

अर्थात—जीव अनन्त अवयव वाला है । उसके वे अनन्त अवयव चींटी आदि के छोटे शरीर मे भी संकुचित होकर समा जाते हैं और हाथी आदि के शरीर में भी वे ही अवयव फैल कर समा जाते है । अर्थात—एक ही जीव मे सिकुडने फैलने की शक्ति है ।

स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश मे जीव को अणुरूप ही माना है । उस मन्तव्य का खण्डन शङ्कराचार्य के उक्त लेख से हो गया तथा साथ ही एकान्त का खण्डन और अनेकान्त का मण्डन भी कर दिया ।

वेद में अनेकान्तवाद देखिये—

"नो सदासीन्नोऽसदासीत्तदानीं"

—ऋग्वेद म० १० सूक्त १२९ मं० १।

अर्थात—प्रलय समय मे सत् (जो है वह) भी नहीं था और असत् (जो नहीं है वह) भी नहीं था। सत् असत् रूप परमात्मा ही था।

इस प्रकार सांख्य, न्याय, वेदान्त, वैशेषिक, आदि दर्शनों में उनके बने हुए अनेक भाष्य और टीकाओं मे तथा वेद, गीता, मनुस्मृति आदि अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों मे भी एकान्तवाद का खण्डन और अनेकान्तवाद का (स्याद्वाद) का मण्डन किया गया है, जिन को कि स्वामी दयानन्द जी तथा उनका अनुयायी आर्यसमाज भी प्रामाणिक मानता है।

स्वामी जी यदि इन ग्रन्थों का भी शान्तचित्त से कुछ अवलोकन कर लेते तो शायद उन्हें जैन दर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त के विपरीत कलम उठाने का परिश्रम न उठाना पड़ता।

हम आर्यसमाजी विद्वानों से निवेदन करते हैं कि वे स्याद्वाद सिद्धान्त का अवलोकन तथा मनन करें।

[१७]

अनुचित असत्य आक्षेप

विचारशील महानुभावो! स्वामी दयानन्द जी ने जैन धर्म की समालोचना करते हुए जैसे अनभिज्ञतावश अनेक भूलें की हैं, वैसे ही उन्होंने जान बूझ कर भी जैन धर्म की निन्दा करने के लिये अनेक असत्य आक्षेप कर डाले हैं, जिनको कि

सफेद झूठ कह सकते हैं। किसी विषय की समालोचना करना अनुचित नहीं, किन्तु जान बूझ कर उस विषय की झूठी निन्दा करना बहुत अनुचित है। समझ में नहीं आता कि स्वामी, सरस्वती, परिव्राजक, परमहंस आदि उच्च पद रखते हुए भी दयानन्द जी को निर्दोष जैन धर्म पर असत्य आक्षेप करते हुये क्यों सकोच नहीं हुआ ?

देखिये—आप सत्यार्थ प्रकाश ११ वें समुल्लास के ३०४ वें पृष्ठ पर लिखते हैं कि—

"शंकराचार्य ने सुधन्वा राजा की सभा में, अन्य अनेक स्थानों पर जैन धर्म का खडन करके जैनियो को हराया। उस समय दो जैन कपट मुनियों ने शंकराचार्य की मायाचार से शिष्यता स्वीकार करके शंकराचार्य को विष देकर मार डाला।"

शंकराचार्य ने किस जैन विद्वान से शास्त्रार्थ किया और किस नामी जैन विद्वान को शंकराचार्य ने हराया था, इसका कुछ उल्लेख नहीं। जैन धर्म का शङ्कराचार्य ने कैसा बढ़िया खडन किया होगा, इसका प्रमाण तो उनके शाङ्कर भाष्य से मिल सकता है जिसके विषय में शाङ्करमतानुयायी विद्वान शंकराचार्य की भूल हृदय से स्वीकार करते हैं। जो शंकराचार्य स्याद्वाद को ही नहीं समझ पाये उन्होंने जैन धर्म का क्या अकाट्य खंडन किया होगा और क्या जैन विद्वानों को हराया होगा,

इसको पाठक महाशय स्वयं निर्णय कर लेवें।

आनन्दगिरि तथा माधवाचार्य कृत शंकरदिग्विजय नाटक में जो जैनों के साथ शास्त्रार्थ का स्वांग रचा गया है वह तो उन दोनों ग्रन्थकारों की और भी अधिक अनभिज्ञता को प्रगट करता है उनको यह भी पता नहीं कि जैन सिद्धान्त क्या है? अस्तु निष्पक्ष विद्वान स्वय निर्णय कर सकते हैं कि शङ्कराचार्य द्वारा जैनियों के हराये जाने की बात कहां तक सत्य है।

स्वामी जी ने जो दो जैन साधुओं द्वारा धोखेबाजी से विष देकर शङ्कराचार्य को मारना लिखा है सो तो बिलकुल असत्य है। किसी को विष देकर मारना यह जैन गृहस्थ का भी कार्य नहीं। जैन साधु तो ऐसे कार्य करने को अपने मुख से भी नहीं कह सकते, मन से प्रेरणा भी नहीं कर सकते। जैन साधु विष देकर किसीको मार नहीं सकता और विष देकर मारने वाला जैन साधु नहीं हो सकता।

शङ्करदिग्विजय नाटक में लिखा है कि "शाक्तभाष्य के कर्ता अभिनवगुप्त ने शङ्कराचार्य को विष खिलाया था जिस से कि शङ्कराचार्य को भगंदर रोग हुआ और उससे उनकी मृत्यु हो गयी। अभिनवगुप्त कुछ दिन पहिले उनसे शास्त्रार्थ मे हारा था।" इस प्रकार शङ्कराचार्य की मृत्यु शाक्तमतानुयायी अभिनवगुप्त द्वारा हुई। स्वामी जी जैन मुनियों द्वारा यह कुकृत्य बतला कर जैनधर्म की निन्दा करना चाहते हैं; सो गन्दा झूठ लिखने के कारण स्वयं स्वामी जी ही निन्दा के पात्र हैं।

स्वामी जी यदि जीवित होते तो हम उनको इस बात की सत्यता प्रमाणित करने के लिये चैलेञ्ज देते । अस्तु,

स्वामी जीने सत्यार्थप्रकाशमें एक स्थानपर यह भीलिखा है कि "महीधर, सायणआदि वेदभाष्यकार जैन मालूम होते हैं। वेदों को अप्रामाणिक ठहराने के लिये उन्हों ने वेदों का भाष्य विपरीत कर दिया है।" यह लिखना भी स्वामी जी का बे सिर पैर का निराधार असत्य है। कोई भी इतिहास तथा वैदिक अवैदिक विद्वान इस बातको स्वीकार नहीं करता। स्मरण रहे कि स्वामी जी का वेद भाष्य अप्रमाण है, क्योंकि वह ब्राह्मण ग्रन्थों से निरुक्त से तथा प्राचीन भाष्यों से विरुद्ध है; अतएव कपोलकल्पित है। इस बात पर हमने कुछ प्रकाश डाला है तथा हम और भी सिद्ध कर सकते हैं। किन्तु सायण महीधर आदि आचार्यों कृत वेद भाष्य इस लिये अप्रामाणिक नहीं कि गिरिधर भाष्य, निरुक्त, ब्राह्मण आदि उनकी पुष्टि करते हैं।

अतएव महीधर, सायणाचार्य को बदनाम करते हुए जो स्वामी जी सफेद असत्य लिख कर जैन विद्वानों को निन्दनीय बनाना चाहते है सो यह व्यवहार स्वयं उनके गले में ही पड़ता है।

[१८]

भूगोल-विषय में भ्रान्ति।

जैनधर्म का कहना अटल है।

प्रिय बन्धुओ! आधुनिक उपलब्ध ग्रंथों में वेद यद्यपि सब से प्राचीन ग्रन्थ है किन्तु स्वामी जी ने उसका भाष्य बनाकर उनका रङ्ग ढङ्ग ऐसा बना दिया है कि उनमें प्राचीन साहित्य की झलक सर्वथा उड गई है। जो बातें पहले जमाने में मौजूद नहीं थीं स्वामी जी ने इस जमाने में प्रचलित उन बातों को महत्व-शाली समझ कर वेदों का महत्व बढ़ाने के लिये, उन्हें वेदों में बढ़ा कर उनकी प्राचीन छटा पर पानी फेर दिया है। यह बात सभी किसी को मालूम है कि टेलीफोन, टेलीग्राफ, मोटर, रेल गाडी आदि पदार्थों का आविर्भाव और गेस तथा बिजली आदि से अनेक प्रकार की मशीनें चला कर काम लेने का आविष्कार पहले जमाने में नहीं हुआ था इनका आविष्कार स्टीफिन्सन आदि यूरोपीय विद्वानोंने अभी किया है। प्रशन्सनीय परिश्रम से उन्हों ने जड तत्व की असीम शक्तियों का विकास संसार के सामने कर दिखलाया है। यद्यपि वायुयान तथा जल जहाज पहले जमाने में भी थे, किन्तु टेलीफोन टेलीग्राफ आदि अर्वाचीन आविष्कार हैं। ऐसा मानने से हमारे प्राचीन ऋषियों का कोई महत्त्व नहीं घटता है क्योंकि उनके प्रखर बुद्धिबल का उदाहरण उनके आध्यात्मिक आविष्कार है, जिनको कि विदेशीय विद्वानों ने आज तक भी नहीं पाया है। अतः हम क्यों न निर्भय होकर

कहें कि ये जड पदार्थों के आविष्कार अभी यूरोपवासियों ने ही किये है। स्वामी जी ने इस प्रकार सत्य बल पर खडे रह कर वेदों की टीका नहीं की। ऋग्वेद भाष्य का २११६ वां पृष्ट निकाल कर देखिये, उन्हों ने मूल वेद के अभिप्राय की कुछ परवा न करके वहां टेलीग्राफ विद्या घुसेड दी है। यह उन्हों- ने आधुनिक चटक मटक देख कर अंग्रेजी पढ़े लिखों को वेदों द्वारा भ्रांत करने के लिये किया है। यही हाल उन्हों ने भूगोल सिद्धान्त के विषय में भी कर दिखलाया है। उन्हो ने आधु- निक भूगोल सिद्धान्त में पृथ्वी को ८ हजार मील व्यास वाला गेंद के समान गोल, स्थिर सूर्य के चारों ओर घूमती हुई देखकर वेदों में ऊटपटांग तौर से जबरदस्ती "अयं गौः प्रश्निरक्रमी- दसदन्मातरं पुरः पितरं च प्रयत्स्वः" (यजुर्वेद अध्याय ३ मन्त्र ६) इस मन्त्र के 'गौः' शब्द का पृथ्वी अर्थ करके यूरोप- वासियों का आधुनिक सिद्धान्त रख दिया है। दूसरे की नकल कर उसका सिद्धान्त अपने में मिला लेना निर्बलता है और अपने प्रभाव को मलिन करने वाली भूल है। अतः हम इसे स्वामी जी की भूल और निर्बलता ही कहेंगे जो कि उन्हो ने जगह जगह वेदों के असली प्राचीन सिद्धान्त को छिपाने का प्रयत्न किया है।

स्वामी जी ने जैनसिद्धान्त में पृथ्वी को स्थिर और बहुत विस्तार वाली देख कर जैनधर्म की पोल समझी है और उसकी हंसी उडा कर सत्यार्थ प्रकाशमे उसको दोषी ठहराया है। स्वा० जी बारहवें समुल्लास मे ४५२ वें पृष्ठ पर यों लिखते हैं कि—

"सुनो भाई भूगोल विद्याके जानने वाले लोगो ! भूगोलका परिमाण करनेमें तुम भूले या जैन। जो जैन भूल गए हों तो तुम उन्हें समझाओ और जो तुम भूले हो तो उनसे समझ लेओ। थोड़ा सा विचारकर देखो तो यही निश्चय होता है कि जैनियों के आचार्य और शिष्यों ने भूगोल और गणित विद्या कुछ भी नहीं पढ़ी थी पढ़े होते तो महा-असंभव गपाड़ा क्यों मारते।"

यद्यपि स्वामी जी ऐसा लिख तो गये हैं किन्तु इसका पार पाड़ना उनके लिये कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। जैन धर्म ने एक भूगोल के विषय में ही क्यों, प्रत्येक विषय में जो कुछ भी सिद्धान्त प्रगट किये हैं वे सिद्धान्त उसके स्वतन्त्र निजी सर्वथा अकाट्य हैं। इसका जैनों को पूरा अभिमान है और उनका यह अभिमान निष्पक्ष विचारशाली बुद्धिमानों को उपयोग लगाकर स्वीकार भी करना चाहिये।

भूगोल के विषय मे यद्यपि आधुनिक प्रचलित भूगोल और भूभ्रमण के सिद्धान्त जैन धर्म को बाधा खड़ी करते हैं किन्तु वह बाधा क्षणस्थायिनी है, सदा ठहरने वाली नहीं है अब वह समय भी समीप दीखता है जब कि ये सिद्धान्त उलट पलट हो जावेंगे। स्वामी जी यदि भूगोल के विषय मे यूरोपीय

विद्वानो के सिद्धान्तो को देखते तो उन्हें मालूम होता कि अभी वे लोग इस विषय मे सफलता के रास्ते मे है, भूगोल विषयक पूर्ण सफलता अभी नहीं पा सके है। जिसका उदाहरण यह है कि कोई यूरोपवासी विद्वान यदि सूर्य को स्थिर कहता है तो कोई उसी सूर्य को लिरा नामक तारे की ओर प्रति घंटे बीस हजार मील दौड़ता हुआ लिखता है। कोई सूर्य को पृथ्वी से तेरह लाख गुना और कोई पन्द्रह लाख गुना बतलाता है। अभी कुछ दिन पहले उत्तरीध्रुवका पता लगाने वाले कैनेडा के एक विद्वान ने यह पता लगाया कि वर्तमान भूगोल मे उत्तरीध्रुव में जो १३ मील गहरा खड्डा माना जाता है वह गलत है, क्योंकि वहां पर उसे चौरस पृथ्वी मिली इत्यादि। इन बातो मे वर्तमान भूगोल व भूभ्रमण का सिद्धान्त निश्चित और ठीक मान लेना अनुचित है। सिद्धान्त निश्चित वही कहा जा सकता है जो कि फिर कभी हिलें चले नहीं। अभी तो पाश्चात्य विद्वान स्वयं ही कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं कर सके है—बराबर खोज मे लगे हुए है।

देखिये ! २१-५-२५ के इङ्गलिशमेन में मि० डबलू. एडगिल नामक प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता ने प्रकाशित किया है कि पृथ्वी थाली के समान गोल और स्थिर है, नारंगी के समान गोल और घूमती नहीं है। ये विद्वान वेस्ट मिनिस्टर गजट नामक पत्र में सर फ्रांक डाइसन नामक प्रख्यात ज्योतिर्विद्वान के सामने अपना मत प्रकट करने के लिये गवर्नमेन्ट से सहायता प्राप्त होने के लिये

प्रयत्न करते है। इस विषय का निर्णय करने के लिये भूगोल-वेत्ताओ का एक अन्तर्जातिक अधिवेशन होने वाला है।

जैन मित्र मे २६ वें वर्ष के ३६ वें अङ्क के ६४८ वें पृष्ठ पर २४-६-२५ के लीडर से उद्धृत समाचार प्रकाशित हुआ है—

"अमुंडसेन साहिब हाल में उत्तरीध्रुव की यात्रा कर के आये है वे कहते हैं कि वहां मैं ने अनेक प्रकार के पशु देखे हैं। इस कारण भूगोलवेत्ताओं का यह विश्वास गलत है कि उत्तर की तरफ ६५ डिग्री से आगे जीवित रहना असम्भव है"।

इस समाचार से भी भूगोलवेत्ता यूरोपीय विद्वानो का एक सिद्धान्त खंडित हो जाता है।

उक्त समाचार से आगे इसी जैन मित्र के ६४६ वें पृष्ठ पर जुलाई १६२५ के माडर्नरिव्यू से उद्धृत किया हुआ समा-चार छपा है कि—

"लिटरेरी डाइजस्ट पत्र में प्रगट हुआ है कि ज्यो-तिषियों की यह सम्मति है कि सूर्य अनेक हैं, एक नहीं है।

यूरोपीय भूगोल वेत्ताओं की इस सम्मति से एक सूर्य मानने का सिद्धान्त विगड जाता है।

महाशयो! क्या इन सब उदाहरणो से यह निश्चय नहीं होता है कि पृथ्वी के घूमने और गेन्द समान गोल होने का सिद्धांत अभी स्थिर नहीं है। ऐसी अवस्था में जैन धर्म क

भूसिद्धान्तको असत्य कह डालना भूल है। फिर भी जैन विद्वान भूगोल के अन्यान्य सिद्धान्तों को युक्तिपूर्वक खंडित करने के लिये समर्थ हैं। इस विषय में अलीगढ़ निवासी श्रीमान पं० प्यारेलाल जी पाटनी मन्त्री भू ज्योतिषचक्रविवेचिनी सभा ने अच्छी सफलता भी पाई है। जो आर्य विद्वान भूगोल के सिद्धान्तों का खडन जानना चाहें वे उक्त महोदय से समझ सकते है। किन्तु यहां स्वामी जी के लेख को, वेद मन्त्रों द्वारा तथा उन्हीं को कलम से लिखे हुए भाष्य द्वारा, इस विषय को असत्य साबित करता हूं।

देखिये यजुर्वेद ३२ वां अध्याय मन्त्र ६—

येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

भावार्थ— विद्युत्लोक उग्र और पृथ्वी निश्चल तथा स्वर्ग स्तम्भित किया है जो आकाश में वृष्टिरूप जल का निर्माता है उस प्रजापति को हवि देते हैं।

इस मन्त्र में पृथ्वी को स्पष्ट तौर से दृढ़ यानी स्थिर बतलाया है।

ऋग्वेद अष्टक २ अध्याय १ वर्ग ५—

सूर्यो हि प्रतिदिनं एकोनषष्ठ्याधिकपंचसहस्रयोजनानि मेरुं प्रादक्षिण्येन परिभ्राम्यतीत्यादि।

भावार्थ—सूर्य प्रति दिन ५०५१ योजन मेरु की प्रदक्षिणा करके भ्रमण करता है। इत्यादि—

ऋग्वेद अ० २ अ० ५ व० २ में स्पष्ट लिखा है—
अचरंती अविचले द्वे पवैते द्यावापृथिव्यौ। इत्यादि—

अर्थात्—अचर और अचल दो ही पदार्थ है—आकाश और पृथ्वी। इत्यादि—

क्या वेदों के इन प्रमाणों को देख कर भी वेदानुयायी जनसमुदाय पृथ्वी को घूमती हुई और सूर्य को स्थिर कह सकता है? आश्चर्य और खेद है कि जिन वेदों से भूगोल के सिद्धान्तों का खंडन होता है, उन्हीं वेदों को स्वामी जी ने तोड़-मरोड़ कर भूगोल सिद्धान्तों के सहमत खड़ा कर दिया।

यजुर्वेद अध्याय ३२, मन्त्र ७—

यन्क्रन्दसी अवसास्तभोन अभ्यैक्षेता मनसा रेजमाने।
यत्राधिसूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

इस मंत्र में सूर्य को चलने वाला बतलाया है।

यजुर्वेद अध्याय ३३ मन्त्र ४३-४४—

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो विशेषयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्येन सविता रथेना देवो याति रथेन पश्यन्॥
प्रवावृजे सुपृया वर्हिरेषामाविश्पतीव वीरिटं इयाते।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहुतौ वायुः पूषास्वस्तये नियुत्वान्॥

अर्थात्—सूर्य सोने के रथ द्वारा चलता हुआ, देव और मनुष्यों को उनके कामों मे लगाता हुआ, रात्रि के साथ सब भुवनों को देखता हुआ गमन करता है ॥ ४३ ॥ वायु और सूर्य सुन्दर तरह से शीघ्र वेग से चलते है ॥ ४४ ॥

स्वामी जी इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यों लिखते हैं—

" हे मनुष्यो ! जो रमणीय स्वरूप से आकर्पण से परस्पर सम्बद्ध लोकमात्र के साथ अपने भ्रमण की आवृत्ति करता हुआ सब लोकों को दिखाता हुआ प्रकाशमान सूर्यदेव जल वा अविनाशी आकाशादि और मरणधर्मा प्राणिमात्र को अपने २ प्रदेश मे स्थापित करता हुआ उदयास्त समय मे आता जाता है सो ईश्वर का बनाया सूर्यलोक है ॥ ४३ ॥"

" हे मनुष्यो ! जैसे पूर्वजों ने प्रशंसा किये हुए सुन्दर प्रकार चलने वाला **शीघ्रकारी वेगादिगुणों वाला पवन और सूर्य इन मनुष्यों के सुख के लिये प्रकर्षता से चलते हैं।** प्रजाओं के बीच प्रजा रक्षक दो राजाओं के तुल्य अन्तरिक्ष मे आते जाते हैं वैसे रात्रि और दिन के जल को प्राप्त होते हैं ॥ ४४ ॥",

यहां पर पहले ४३ वें मन्त्र के भाष्य मे यद्यपि स्वामी जी ने 'हिरण्येन रथेना' इन शब्दों का अर्थ बिलकुल नहीं किया है। 'हिरण्येन रथेना' का अर्थ 'सोनेके रथ द्वारा' होता है सो शायद स्वामी जी को आधुनिक भूगोल सिद्धान्त के अनुसार इष्ट नहीं

होगा। इस कारण उसे हज़म कर गये। किन्तु फिर भी 'सूर्य उदय अस्त समय में आता जाता है।' इतना स्पष्ट लिख गये हैं। ४४ वें मन्त्र के अर्थ में स्वामी जी साफ लिखते हैं कि "सुन्दर प्रकार चलने वाला वेगादि गुणों वाला पवन और सूर्य इन मनुष्यों के सुख के लिये प्रकर्षता से चलता है" यानी मनुष्यों के सुख के लिये जैसे हवा चलती है वैसे बड़े वेग से सूर्य भी चलता है।

आर्यसमाजी भाइयो! देखिये अपने वेदों के भूगोल सिद्धान्त को, उपर्युक्त दोनों वेद मन्त्रों से स्वामी जी स्पष्ट कह रहे हैं कि सूर्य उदय समय आता है अस्त समय चला जाता है हवा की तरह चलता है। इस कारण स्वामी जो जो आधुनिक भूगोल के साथ वेदों के मन्त्रों की सम्मति दिखलाते हैं उनकी वह खींचतान से खड़ी की गई भूगोल विद्या स्वयं फिसल कर गिर जाती है। या तो आप इसको सत्य मान कर सूर्य स्थिर रहने और पृथ्वी घूमने के सिद्धान्त को असत्य समझें अथवा इन दोनों वेदमन्त्रों को अप्रमाणिक कह दें।

उपर्युक्त दो वेद मन्त्रों से तो हमने सूर्य चलने का सिद्धान्त बतलाया। अब आपके सामने हम एक ऐसा वेद मन्त्र उपस्थित करते हैं जो कि पृथ्वी को स्थिर रहना (घूमती नहीं है ऐसा) बतलाता है।

यजुर्वेद अध्याय ७ मन्त्र २५ पृ० २०७—

उपयाम गृहीतोसि ध्रुवोसि ध्रुवक्षिति ध्रु्वाणां ध्रुवत-मोच्युतानाम् च्युतक्षित्तम एष ते योनिर्वैश्वनराय त्वा । ध्रुव-ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि अथा न इन्द्र इद्विषो सप-त्नाः समनस्करत् ॥ २५ ॥

अर्थ—हे परमेश्वर! आप शास्त्र प्राप्त नियमों से स्वी-कार किये जाते हैं ऐसे ही स्थिर है कि जिन आप में भूमि स्थिर हो रही है और स्थिर आकाश आदि पदार्थों में अत्य-न्त स्थिर है।... ... ..

आर्यसमाजी महाशयो! यह वेद मन्त्र तथा स्वामी जी यहां स्पष्ट कहते है कि हे परमेश्वर! तुम्हारे भीतर पृथ्वी स्थिर है यानी घूमती घामती नहीं है जहां की तहां ठहरी हुई है। अब बतलाइये कि भूभ्रमण यानी पृथ्वी घूमने को बात इस वेद-मन्त्र के सामने कैसे टिक सकती है। या तो यह वेद मन्त्र ठीक रह सकता है या जमीन का घूमना?

स्वामी जी जैन सिद्धान्त में पृथ्वी स्थिर और सूर्य चलने की बात देख जैन ग्रन्थकारो के ऊपर तो आक्षेप करने खडे होगए किन्तु अपने हाथ से लिखे हुये वेदभाष्य को कुछ देखा ही नहीं। जो मन में आया सो लिख गये, वह चाहे अपनी कलम से ही क्यों न कट जावे।

शिरोमणि गोलाध्याय में लिखा है कि—

'भूरचला स्वभावत· ।'

अर्थात्—जमीन स्वभाव से अचल (न चलने वाली) है।

दूसरे एडीशन की संस्कारविधि के १२६ वें पृष्ठ पर लिखा है—'ओं ध्रुवाद्यौर्ध्रुवा पृथिवी' इत्यादि।

यानी—आकाश और पृथ्वी स्थिर हैं। अर्थात आकाश की तरह पृथिवी भी ठहरी हुई है। स्वामी जी इस संस्कार विधि को प्रमाण मानते हैं।

यजुर्वेद चौदहवें अध्याय का पहला मन्त्र भी पृथ्वी को स्थिर लिखता है; किन्तु खेद है, कि स्वामी जी ने इस के अर्थ में इस बात की गन्ध भी नहीं छोड़ी। अस्तु। स्वामी जी का वेद भाष्य भी जरा देखिये—

१६८४ वें पृष्ठ पर यजुर्वेद भाष्य में १६ वें अध्याय का ५५–५६ वां मन्त्र।

हे मनुष्यो ! हम लोग जो इस व्यापकता आदि बडे २ गुणों से युक्त बहुत जलो वाले समुद्र के समान अगाध, सब के बीच आकाश मे वर्तमान जीव और वायु हैं उनको उपयोग में लाके असंख्यात चार कोश के योजनों वाले देश में धनुषों वा अन्नादि धान्यो का अधिकता के साथ विस्तार करें।

हे मनुष्यो ! हम लोग जो कण्ठ में नीलवर्णसे युक्त तीक्ष्ण वा श्वेतकण्ठ वाले सूर्य को बिजली जैसे, वैसे जीव वायु हैं उनके

उपयोग से असंख्य योजन वाले देश में शस्त्रादि को विस्तार करें, वैसे तुम लोग भी करो।

पाठक महाशयो! स्वामी जी ने भूगोल सिद्धान्त में पृथ्वी का व्यास पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक लगभग आठ हजार मील का देख कर जैन सिद्धान्त में बतलाये हुए एक लाख योजन वाले जम्बूद्वीप आदि का विवरण पढ़ कर जैन आचार्यों को भूगोल विद्या का अजानकार बतलाया, किन्तु उन्हें वेद भाष्य लिखते समय ऐसी घोर निद्रा आगई कि देश का परिमाण करोड़ों अरबों, संख्यो योजनों से भी बाहर यानी जिसको मनुष्य गणितसे गिन न सके ऐसा असंख्यात योजन लिख डाला। क्या स्वामी जी अपने इस लेख से अपने को भूगोल विद्या का जानकार सिद्ध कर सकते हैं? खेद है कि स्वामी जी ने भूगोल विषय सम्बन्धी आक्षेप जैनधर्म पर करते हुये अपनी मोटी भूल को नहीं देखा। अतः महाशयो! यहां भी स्वामी जी स्वयं अपने मुख से ही गलत ठहरते हैं।

स्वामी जी जो स्वर्ग, नरक, जम्बू द्वीप आदि को न मान कर पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्त को ही ब्रह्मवाक्य समझते हुये वेदों के कुछ मन्त्रों के अर्थ को घुमा कर जबरदस्ती उधर खींच ले गये हैं यह तो अनुचित है ही क्योंकि उनका यह कार्य प्राचीन वेदभाष्यों के विरुद्ध ठहरता है किन्तु साथ ही उन्हों ने जिन जिन दार्शनिक ग्रन्थों को प्रमाण माना है उन ग्रन्थों को भी

बिना अवलोकन किये जैन ज्योगरफी पर आक्षेप किया है यह और भी अधिक अनुचित उद्योग है।

देखिये व्यास भाष्य सहित पातञ्जलि योगदर्शन के तृतीय पाद का २६ वां सूत्र पृष्ठ ६०—६१

भुवनज्ञानं सूर्ये सयमात् २६

भाष्य—"ततः प्रस्तारः सप्तलोकास्तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवंभूर्लोको मेरुपृष्ठादारभ्या-ध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकस्तत्परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयलोकश्चतुर्थः प्राजापत्य ततो महातल रसातलातलवितलतलातलाख्यानि सप्त पातालानि भूमिरियमष्टमी। सप्तद्वीप वसुमती यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वत-राजः काञ्चनः। ... ... स खल्वयं शतसहस्रायामो जम्बू-द्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टित। ततश्च द्विगुणा शाककुशक्रौञ्चशाल्मलगोमेधपुष्करद्वीपाः सप्त समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पा।" इत्यादि।

अर्थात—"सात लोक हैं सुमेरु पर्वत वाला यह भूलोक है। मेरू पर्वत के पृष्ठ भाग से लेकर ध्रुव तक ग्रह, नक्षत्र तारों से सुशोभित अन्तरीक्ष लोक है। उससे ऊपर पांच प्रकार का स्वर्गलोक है। माहेन्द्र तीसरा लोक है चौथा प्राजापत्य लोक

है। सात पाताल हैं। उनके नाम महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल हैं। यह मध्य लोक आठवीं पृथ्वी है। इस मध्य लोक की पृथ्वी पर सात द्वीप है जिसके बीच मे सोने का सुमेरु पर्वत है। जम्बूद्वीप एक लाख योजन लम्बा चौडा है। जम्बूद्वीप दुगने विस्तार वाले चूडी की तरह गोल लवण समुद्रसे घिरा हुआ है। उसके आगे दुगने दुगने शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मल, गोमेध, और पुष्कर ये छह द्वीप हैं। सरसो के ढेर के समान सात समुद्र है।" इत्यादि—

यह योगदर्शन आर्यसमाज द्वारा स० १९४९ मे विरजानन्द प्रेस लवपुर (लाहौर) मे छपा हुआ है। इस कारण आर्यसमाज इसको अप्रमाण नहीं ठहरा सकता। यह विषय प्रक्षेप ठहराने के लिये सुदृढ़ अटल प्रमाण पेश करने चाहिये।

इस योगदर्शन में जगत का जो कुछ वृत्तान्त लिखा है जैन दर्शन मे भी वैसा ही माना है, कुछ अन्तर है। ऐसा होते हुए स्वामी जी ने जैन ज्योगरफी की खिल्ली क्यों उड़ाई? क्या उनको अपने घर का भी पता नहीं था? जब कि योगदर्शन को आर्यसमाज प्रमाणभूत मानता है तब उस को जैन दर्शन के बतलाये गये जम्बूद्वीप आदि को असत्य कहने का स्थान नहीं।

इस कारण कहना पडेगा कि स्वामी जी इस विषय मे भी बहुत भूले है। यूरोपीय विद्वानों ने भूगोल के विषय में

जो कुछ भी सिद्धान्त बनाये है, वे सब अनुमान (अन्दाज) लगा कर ही तयार किये है, प्रत्यक्ष देख कर बनाया हुआ उन का कोई भी सिद्धान्त नहीं है। यद्यपि अनुमान सत्य भी होता है किन्तु हेत्वाभास से उसके असत्य हो जाने मे भी (अनुमानाभास) बाधा नहीं आती। भूगोल में जो दक्षिणीध्रुव माना है वहां तक कोई विद्वान नहीं पहुँच पाया है। उत्तरीध्रुव पर जो खोजी विद्वान पहुचे हैं, उन्हें बराबर जहां तक वे जा सके सपाट पृथ्वी मिली है, आगे भी उन्हों ने सपाट पृथ्वी का तथा मनुष्य आदि का अन्त नहीं बतलाया है, फिर भूगोल और भू भ्रमण का सिद्धान्त अनिश्चित ही क्यों न कहा जावे। कालान्तर में जब पृथ्वी स्थिर और सूर्य चलायमान सिद्ध होगा तब वेद भाष्य स्वामी जी की अनुचित अनिष्ट कृति पर दुःख प्रकाशित करेगा।

[१६]

तीर्थङ्करों के विशालकाय से स्वामी जी को आश्चर्य क्यों हुआ ?

मान्यवर महाशयो ! स्वामी जी ने जैन धर्म की समालोचना करते समय जैन धर्म को, अनेक विषयों को आज कलके ज़माने से मिला कर असत्य ठहराना चाहा है, उन में से कुछ विषयों का खुलासा पीछे किया जा चुका है; अब यहां पर स्वामी जी ने जो तीर्थङ्करो की शरीर की ऊंचाई और आयु का परिमाण

विशाल देख कर उसकी असभवता दिखाते हुए सत्यार्थ प्रकाश के ४८६ वें पृष्ठ पर यह लिखा है कि "इस में बुद्धिमान लोग विचार लेवें कि इतने बड़े शरीर और आयु मनुष्य देह का होना कभी संभव है ? इस भूगोल में बहुत ही थोड़े मनुष्य बस सकते हैं।" इस की परीक्षा करते है।

स्वामी जी ने जो कुछ जमाना देखा है वह केवल ५०-६० वष पहले का ही जमाना है। उसे ही देख कर उन्हों ने प्राचीन जमानेको भी उसीके साथ मिलाना चाहा है। किन्तु यह उनकी भूल है; क्योंकि प्राचीन समय की बातें आज आश्चर्यरूपमें दीखती है जैसे कि कुछ शताब्दियों पहले लोग दो मन भारी लोहे का कवच पहन कर युद्ध करने जाते थे, हम्मीर टीपू सुलतान आदि वीर मनों भारी वजन के गदा तलवार आदि को हाथ मे लेकर युद्ध करते थे, भीमसेन युद्ध मे हाथियों को उठा उठा कर फेंक देते थे। अभी २८--३० वर्ष पहले ही लाहोर जिलेमें चम्रां गांव का रहने वाला हिरासिंह नामक पहलवान २७मनभारी मुद्गर घुमाता था और इसी जिले के पलटोहे गांव का रहने वाला फतेसिंह नामक सिक्ख १०० मन तक भारी अरहट (रेंट) को उठा लेता था। इत्यादि। हम यदि आज कलके नाजुक निर्बल शरीर को देख कर उपर्युक्त बातों पर विचार करें तो वे

असम्भव सरीखी दीखने लगती हैं, किन्तु हैं वे सब सत्य।

प्राचीन समय के मनुष्यों में शरीर बल बहुत होता था जो कि आगे आरों के जमाने मे बराबर घटता चला आया है और घटने का मार्ग आगे और भी अधिक चलता जायगा। तदनुसार उस पुरातनकाल में शरीर की ऊंचाई (कद) भी बहुत ऊंची होती थी जो कि आज कल के मनुष्यों में असंभव जचने लगती है जैसा कि स्वामी जी को जंचा है। स्वामीजी के कथनानुसार आज कल के मनुष्यों के समान पुराने समय मे भी शरीर का कद ४—५ फुट ऊंचा होना चाहिये, किन्तु ऐसा अनुमान लगाना पुरातन समय के इतिहास खोजने में भारी भूलना है। क्योंकि हमको आजकल भी मनुष्यों के साधारण कद से दूने ऊंचे कद वाले मनुष्य दीख पडते हैं जैसे कि हमने स्वयं बम्बई देवले सर्कस में ९ फीट ऊंचा एक मनुष्य देखा था। जब कि आज कल ही दूने कद के मनुष्य मिल जाते हैं। तब फिर प्राचीन समय में बहुत ऊंचे शरीर वाले मनुष्यों का होना क्यों असंभव है? १८ सितम्बर सन १८९२ के गुजरात मित्र के ३० वें अंक में अस्थि-पंजरों का वर्णन करते हुये प्रकाशित हुआ है कि **कोनटोलो-कस** नामक राक्षस साढ़े पन्द्रह फुट ऊंचा था। **फरटीगस** नामक मनुष्य २८ फुट ऊंचा था। मुलतान शहर मे बोर दर-वाजे के भीतर एक ९ गज की कब्र अभी तक विद्यमान है जो कि साफ बतलती है कि उस कब्र वाला पुरुष ९ गज यानी १८ हाथ ऊंचा था। विलायत में किसी एक अजायब घर में डेढ़

फुट लम्बा मनुष्य का एक दांत रक्खा हुआ है। विचारिये जिसका वह दाँत है, वह मनुष्य कितना बडा होगा ? १२ नवम्बर सन १८६३ क गुजराती पत्र में हगरी मे मिले हुये एक राक्षसी कद के मेंढक के हाड़ पजर का समाचार यों छपा है कि इस मेंढक की दोनों आखों मे १८ इंच यानी डेढ फुट का अन्तर है (जब कि आज कल लग भग एक इ च का होता है) उस की खोपड़ी ३१२ रत्तल भारी है और हाडों के पंजर का वजन १८६० रत्तल है।

स्वामी जो यदि इन समाचारो को पढ़ लेते तो जैन ग्रन्थों मे बतलाई गई तीर्थङ्करो के शरीर की ऊंचाई पर तथा अन्य जीवों की अवगाहना पर आश्चर्य प्रगट कर असंभवता का आक्षेप न लगाते। क्योंकि ये अस्थि पंजर तो कुछ हजार वर्ष पहले के ही हैं। जैन तीर्थङ्करा को हुए तो आज लाखों करोड़ो वर्ष बीत गये, वे अनुमान से भी कितने अधिक ऊचे होने चाहिये, इसका अनुमान आप लोगों को उपर्युक्त उदाहरणों से लगा लेना चाहिये। आयु का प्रमाण आज कल की अपेक्षा पुरातन समय मे बहुत अधिक था क्योंकि उनके शरीर में शक्ति बहुत होती थी। निर्बलता के कारण ही मनुष्य आज कल प्रायः ४०-५० वर्ष तक भी कठिनता से पहुँच पाते है, जबकि कुछ समय पहले मनुष्य प्रायः ६०—१०० वर्ष के होकर ही मरते थे। इससे सिद्ध होता है कि पुरातन काल मे आयु का प्रमाण भी आज कल की अपेक्षा बहुत अधिक था, जो शरीर की ऊंचाई तथा

बल के साथ साथ बराबर दिनों दिन घटता चला आया है और घटता चला जा रहा है। अतः स्वामी जी का इस विषय में आश्चर्य प्रगट करके असंभवता दिखलाना भारी ऐतिहासिक भूल है।

तीर्थङ्करों की दीर्घ आयु देख कर भी स्वामी जी हैरान हो गये। उनकी यह हैराना भी अपना घर बिना देखे हुई। यदि वे अपने अभीष्ट, मान्य व्यास भाष्यसहित पातञ्जल योग-दर्शन को देख लेते तो उनकी यह हैरानी अवश्य दूर हो जाती किन्तु स्वामी जी ने प्रायः सब जगह दूसरे की बात को असत्य ठहराने के लिये अपना आगा पीछा कुछ नहीं देखा है।

सं० १९४९ में विरजानन्द प्रेस से लाहौर मे प्रकाशित व्यासकृत भाष्यसहित योगदर्शन पृ० ११—१२ को देखिये—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

इस सूत्र के भाष्य में लिखा है—

तत प्रस्तारः सप्त लोकाः ·· ·· ··अणिमाद्यैश्वर्यो-पपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिनः औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः । ······ ·········एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः इत्यादि।

अर्थात्—सात लोक हैं······ ·········अणिमा महिमा आदि ऋद्धियोंसे सहित, यथेच्छभोगी, सुन्दरी प्रिय अप्सराओं के

परिवार वाले, औपपात्रिक शरीरधारी देव होते हैं उनकी आयु (उम्र) कल्प के बराबर होती है। .. ..
ये देव महाभूतों को वश करने वाले, ध्यानमात्र से आहार करने वाले (विचार करते ही जिनको भोजन मिल जावे भूख मिट जावे) हज़ार कल्प की आयु वाले होते हैं।

देवतर्पण प्रकरण मे सत्यार्थप्रकाश के १०१ वें पृष्ठ पर स्वामी जी ने शतपथ ब्राह्मण का 'विद्वांसो हि देवाः' प्रमाण देकर विद्वान मनुष्यों को ही देव बतलाया है।

इस कारण स्वामी जी के मतानुसार योगदर्शन के प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि विद्वान पुरुषों की आयु हजार कल्पों की भी होती है। एक कल्प हजारों वर्षों का होता है। इस लिये योगदर्शन के लिखे अनुसार कभी कहीं मनुष्यो की आयु लाखों वर्षों की भी होनी चाहिये।

जब कि आप का प्रामाणिक ग्रन्थ योगदर्शन मनुष्यों की ऐसी दीर्घ आयु स्पष्ट बतलाता है (जिसका भाष्य महर्षि व्यासकृत है) तब तीर्थंकरों की दीर्घ आयु अप्रमाणित कैसे कही जा सकती है ? इसको आर्यसमाजी विचारें।

हां। आर्यसमाज के हाथ मे एक अस्त्र है कि जो बात उसकी छोटी निगाह मे ठीक न जचे, वह चाहे वेदों में ही क्यों न लिखी हो (जैसे यजुर्वेद १६ वें अध्याय ५५—५६ वें मन्त्र के भाष्य में स्वामी जी पृथ्वी का विस्तार हजारों योजन लिख गये है) उसको किसी दूसरे का प्रक्षेप (मिलावट) कह कर अप्रमाण

कह देते हैं। ऐसा ही शायद उपर्युक्त योगदर्शन के लिये कह सकते है किन्तु उक्त योगदर्शन के लेख को अप्रमाण ठहराने क लिये इसके विरुद्ध दृढ़ प्रमाण देना होगा। केवल कह देने से काम न चलेगा। वेदों में दिखलाना होगा कि मनुष्य लाखो वर्षो की आयु वाले नहीं हो सकते।

जैनदर्शन

जैन सिद्धान्त में काल का चक्कर दो तरह का माना है—एक उत्सपण दूसरा अवसर्पण। जिस युग में मनुष्यों का शरीर आयु बल, बुद्धि, सुख आदि दिनों दिन बढ़ता चला जावे वह उत्सर्पण काल है। जिसमें मनुष्यों की सुख, शान्ति, बल, वैभव, शारीरिक ऊंचाई, आयु आदि सामग्री दिनों दिन घटती चली जावें उसको अवसर्पण काल कहते हैं।

तदनुसार यह अवसर्पण युग है। इसमें मनुष्यों का आयु, शारीरिक कद, बल आदि दिनोदिन घटते चले आये हैं और आगे २ घट रहे हैं। २००—३०० वर्ष ही पहले के हम्मीर शिवाजी, टीपूसुलतान, आदि ऐतिहासिक पुरुषों के कवच (बख्तर) तलवार, गदा आदि को अजायबघरों में देख कर आज कल के मनुष्यों से बहुत अन्तर मिलेगा। उनके कवच आजकल के मनुष्यो के शरीर में बहुत बड़े होते हैं उनके साधारण हथियारोंको भी आजकलके मनुष्य सहसा उठा नहीं सकते। हमीरको

गदा को ३—४ आदमी मिल कर मुश्किल से उठा सकते है।

आजकल यहां के मनुष्यो की टोटल आयु सिर्फ २६ वर्ष है। अमेरिका आदि मे कुल ४२ वर्ष की है इससे अधिक वर्षों तक मनुष्य जीवित नहीं रहते जब कि पृथ्वीराज के समय मे ८० वर्ष की यहां पर मनुष्यों की (टोटल रूप) में आयु थी।

इस प्रकार थोडी सी शताब्दियों (सदियों) में ही जब मनुष्यो के शारीरिक कद, बल और आयु में इतनी हीनता आ गई है तब लाखों वर्ष पहले के जमाने से अब तक कितनी हीनता आनी चाहिये इस को स्वयं आर्यसमाजी विचारें। प्राचीन अर्वाचीन ऐतिहासिक साधनो को देख कर स्वामी जी को इस विषय पर कुछ आक्षेप करना था।

रही उनके लिये रहने के स्थान की बात, सो यह भी मोटी तरह से देखने पर असम्भव दिखने लगता है कि सैकडों हाथ ऊंचे शरीर वाले मनुष्य इस भारतवर्ष मे कुछ एक ही रहने पाते होंगे। क्योंकि आप जब कि बम्बई की भूमिको नाप-कर उसमे १३ लाख मनुष्यो का रहना तथा लण्डन की भूमि का वर्गफल निकाल कर उसमे ५६—५७ लाख मनुष्यों का रहना, एवं न्यूयार्क नगर के भूविस्तार को देख कर उसमे रहने वाले ६० लाख मनुष्यों का विचार कर गणित लगावेंगे तो आपको मालूम होगा कि प्रत्येक मनुष्य के भाग में मुश्किल से ५ वर्ग-फुट भूमि भी नहीं आती है, फिर भी वे सभी मनुष्य उन नगरोंमें

आनन्द से रहते हैं, सोते हैं, उठते बैठते हैं। ५ वर्ग फुट भूमि में ही यह बात कैसे हो जाती है ? जब कि यह शंका उठेगी तो उसके उत्तर मे यह बात कही जायगी कि इन नगरों के मकानात बहुत ऊंचे अनेक खण्डों के (खनों के, मालों के) हैं । पांच खण्ड से ले कर ६० खण्डों तक के मकान इन नगरों में हैं। न्यूयार्कमे उलवर्थाबिल्डिङ्ग ६० खन की है। इस कारण भूमि का विस्तार थोडा रहने पर भी यहां सब लोग खूब अच्छी तरह निवास करते हैं। जब कि आज कल ऐसी व्यवस्था मे स्वामी जी गणित द्वारा इन नगर निवासियों के स्थान की असम्भवता मिटा सकते हैं, तो प्राचीन समय मे एक २ मकान के ८४—८४ खण्ड होते जान कर उतने ऊंचे शरीर वालों के लिये रहने का प्रबन्ध इसी भूगोल पर क्यों नहीं कर सकते । इसके सिवाय—

पहले समय में भूमिका विस्तार भी आज कल की अपेक्षा अधिक था। भूकम्प आदि से बहुत भूमि जलमग्न होकर कम हो गई है। इसके सिवाय वर्तमान में प्राचीन समय से जन संख्या भी बढ़ गई और बराबर बढ़ती जा रही है। अतः स्वामी जी को प्राचीनकाल के ऊंची अवगाहना वाले मनुष्यों के लिये रहने के स्थान विषयक शंका न्यूयार्क नगर का स्थान, उसके निवासियों की संख्या देख कर दूर कर लेनी चाहिये।

———
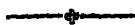
विशालकाय

मनुष्योंके विशालकायका उल्लेख पातञ्जल योगदर्शन में भी स्पष्ट मिलता है, जिसको कि स्वामी जी तथा आर्यसमाजी भाई प्रमाण मानते हैं। देखिये विरजानन्द प्रेस से सं० १९४९ में प्रकाशित व्यासकृत भाष्य सहित योगदर्शन का १८ वां पृष्ठ—

ततो ऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

(भा०) तत्राणिमा भवत्यणुः । लघिमा लघुर्भवति । महिमा महान् भवति प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसं ।' इत्यादि ।

इसी प्रकार भाषाटीका भोजवृत्तिसहित योगदर्शन प्रथम एडीशन के १८९ पृष्ठ पर भी इस सूत्र की वृत्ति मे ऐसा लिखा है, देखिये—

'अणिमा परमाणुरूपतापत्तिः । महिमा महत्त्वम् । लघिमा लघुत्वम् । तूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्तिः गरिमा गुरुत्वप्राप्तिरङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनशक्तिः प्राप्तिः ।' इत्यादि ।

अर्थात—योगबल से मनुष्य का शरीर परमाणु के बराबर छोटा हो जाता है, बहुत बडा हो जाता है, रुई से भी हलका हो जाता है, बहुत भारी हो जाता है और योगबल से ही मनुष्य का शरीर इतना बडा भी हो जाता है कि मनुष्य अपनी अंगुली

से चन्द्र सूर्य आदि को छू लेता है।

उपर्युक्त दोनों योगदर्शन आर्यसमाज द्वारा ही छपाये हुए हैं, इस कारण आर्यसमाजी इनको अप्रमाण या प्रक्षिप्त, जाली आदि नहीं कह सकते।

जैन ग्रन्थो में तो प्राचीन मनुष्यों की ऊंचाई केवल पांच सौ धनुष ही बतलाई है, किन्तु योगदर्शन तो उससे सैकडों गुनी अधिक शरीर की ऊंचाई बतला रहा है जिसको कि आर्यसमाजी नेत्र मीच कर सत्य मान रहे हैं। "यहां जमीन पर खड़ा हुआ मनुष्य अपने हाथ से चन्द्रमा को छू ले" आर्यसमाजी भाइयो! विचारिये हाथ से चन्द्रमा छूने वाले पुरुष का शरीर कम से कम दोसौ चारसौ मील ऊंचा तो होगा। क्योंकि चन्द्रमा यहां से हजारो मील दूर है।

जबकि आपके मान्य ग्रन्थमें इतना ऊंचा कद मनुष्यका बतलाया है तब आप जैन ग्रन्थों में इसकी अपेक्षा बहुत छोटे कद को भी असभव बतलाकर उस पर आक्षेप करें तो समझना चाहिये कि आप अपनी आंखका बड़ा टट (बडा फूला) न देख कर दूसरे की छोटी फूलीको देख रहे हैं। खेद है स्वामी जी ने अपना घर बिना देखे जैन ग्रन्थों पर आक्षेप कर दिया।

मनुष्यों के शरीर का कद आजकल प्राय साढ़े चार या पांच फीट ऊंचा होता है, किन्तु आप तो असंभव समझेंगे कि

आजकल के जमाने में भी दस–बारह फीट ऊचे मनुष्य पाये है। हिमालय पहाड में मेगू जाति के मनुष्य जोकि ऐसे ही विशाल-काय होते है, उनका समाचार अनेक हिन्दी अंग्रेजी देशी विलायती अखबारो मे प्रकाशित हो चुका है।

कृष्णकान्त मालवीय द्वारा सम्पादित इलाहाबाद से प्रकाशित 'अभ्युदय' (२७ जुलाई १६२६ पृष्ठ ११ तीसरा कालम) मे निम्नलिखित लेख प्रगट हुआ था'—

हिमालय मे देव जाति के मनुष्य, उनका विचित्र हाल

"... विलायती डेली टेलीग्राफ पत्र का संवाददाता उस हिमाच्छादित देशकी ओर पता लगाने गया। उसने उधर कठिन से कठिन यात्रायें कीं और पहाडी जातियों मे 'मेगू' का पता लगा कर जो कुछ जाना वह यही है कि मेगुओं की जाति वडी भयानक होती है। **इस मेगू जाति के नर नारी कद में आठ से बारह फीट तक लम्बे होते हैं।** उनका निवास स्थान हिमालय को बहुत ऊंची चोटियों पर होता है। तेरह हजार से बीस बाईस हजार फीट की ऊंचाई पर वे रहते है। उनकी संख्या अधिक नहीं है। वे एक जगह एकत्र होकर नहीं रहते, बल्कि भिन्न भिन्न जोडे भिन्न २ स्थानों में रहते है। उस जाति के पुरुष जितने भयानक होते हैं उतनी ही भयानक उनकी स्त्रियां होती है।" इत्यादि—

आर्यसमाजी भाइयों के सामने यदि इस समाचार के प्रगट होने से पहले आज कल के मनुष्यों में से किसी का कद ८-१० फीट ऊंचा कहा जाता तो आर्यसमाजी गप्प समझते, उसको किसी प्रकार भी गले से नीचे नहीं उतारते, किन्तु इस समाचार से आर्यसमाज को अपनी धारणा बदलनी पड़ेगी। क्योंकि जब इसी वर्तमान जमाने मे मनुष्य के कद की साधारण ऊंचाई ४॥-५ फीट होती है तब इसी वर्तमान समय में मेगू लोग दुगुने तिगुने ऊंचे कद के भी पाये जाते हैं। तब बहुत प्राचीन ज़माने में जिसको कि आज से लाखों करोडो वर्ष पहले का जमाना कहना चाहिये, जैन ग्रन्थों में लिखे हुए कद के अनुसार उस समय के मनुष्यों के शरीर की ऊंचाई उतनी हो, इसमें क्या सन्देह है ?

आजसे ढाई हजार वर्ष पहले साधारणतया मनुष्योंकी दस-ग्यारह फीट ऊंचाई होती थी, वह दिनों दिन घटते घटते सोलहवीं शताब्दी मे ७ फीट रह गई थी। अब घटते २ केवल ४॥-५ फीट ऊंचा कद रह गया है।

इस प्रकार इस विषयका आक्षेप जैनधर्म के ऊपर करने से भी स्वामी जी बहुत भूले हैं।

दिव्य शरीर

आर्यसमाजी लोग जैनग्रन्थों में लिखे हुये देवों के शरीर के विषय में तथा सौधर्म इन्द्रके ऐरावत हाथी के विषय में

आक्षेप किया करते हैं, सो भी विषयको बिना समझे, जैनदर्शन को बिना जाने केवल दोष देखने की दृष्टिका फल है।

आर्यसमाजी भाईयों को मालूम होना चाहिये कि जैन-दर्शनमें औदारिक, वैक्रियिक. आहारक, तैजस और कार्माण ऐसे ५ शरीर माने हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी आदिका शरीर औदारिक शरीर होता है। देवोंका शरीर वैक्रियिक होता है। उनके शरीर का मैटर हमारे शरीरसे भिन्न तरहका होता है। वैक्रियिक शरीर में यह विशेपता होती है कि वह शरीर स्वाभाविक अणिमा महिमा आदि ऋद्धियों के द्वारा (जैसी कि योगबलसे योगियों के योगदर्शनके 'ततो अणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्प-त्तद्धर्मानभिघातश्च' सूत्रमे बतलाई है) इच्छानुसार छोटा बडा, हलका भारी आदि बनाया जा सकता है। अणिमादि ऋद्धियों के कारण देव अपना शरीर ऐसा सूक्ष्म भी बना सकते है कि वह सामने खडा हुआ भी दिखलाई न दे।

अनेक पुरुषों के शरीर मे भूत, व्यन्तर आदि देव घुसकर अनेक चेष्टा कराते हैं, किन्तु उन भूतों को कोई देख नहीं पाता तथा उनका वैक्रियिक शरीर मनुष्यके शरीर में समा जाता है। जैसे छाया न किसी वस्तु को रोकती है, न किसी स्थूल पदार्थ से रुकती है। इससे भी अधिक विशेपता देवों के शरीर में होता है।

मैस्मेरिज़्म जादूगिरी, खेल तथा योगियों की अनेक

आश्चर्यजनक क्रियायें स्थूल पदार्थ और शरीरों से होती हुई दीखती हैं। फिर जो शरीर ही इन शरीरों से अलग तरहका हो, बहुत विशेषता रखता हो, अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि शक्तियों से जिसमें विशेष सामर्थ्य मोजूद हो, वह अनेक आश्चर्यजनक चेष्टायें कर दिखावे, उसमे क्या हैरानी होनी चाहिये।

[२०]

स्वामी जी की अनभिज्ञता

प्यारे आर्य भाइयो! सत्यार्थ प्रकाश मे स्वामी जी ने जैनधर्मकी समालोचना करते समय जैनसिद्धान्त की अजानकारी से जो भूलें की है, सो तो ठीक ही है; किन्तु उनके सिवाय उन्होंने बहुतसी भूलें ऐसी भी की हैं जो कि उनका साहित्य विषयक विद्वत्ताकी कमी को प्रकट करती है। सच्चे समालोचक का कर्तव्य है कि वह जिस विषयको पूरा न समझ पावे, उसकी समालोचना मे बलात् हाथ न डाले, क्योंकि ऐसा करने से समालोचक को अनेक जगह लेने के देने पड जाते है। स्वामी जी ने भी अनेक स्थानों पर संस्कृत भाषाके श्लोकों का वास्तविक अर्थ न समझ कुछ का कुछ कर डाला है। इस विषयको भी आप महाशयों के सन्मुख प्रगट किया जाता है—

सत्यार्थ प्रकाश के ४४२ और ४४४ वें पृष्ठों पर निम्न-लिखित ६ श्लोक मीमांसकों के हैं; जोकि उन्होने जैनों के

सन्मुख सर्वज्ञखण्डन के लिये उपस्थित किये हैं, किन्तु स्वामी जी इन्हे ईश्वरखण्डन विषय मे जैनो के लिखे हुये समझ बैठे हैं, देखिये—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोस्ति लिङ्गं वा योनुमापयेत् ॥१॥
न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः।
न च तत्रार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्पते ॥२॥
न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्व विधीयते।
न वानुवदितुं शक्य· पूर्वमन्यैरबोधितः ॥३॥
अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेणत्वसत्येन स कथ प्रतिपाद्यते ॥४॥
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोन्यै प्रतीयते।
प्रकल्पेत कथ सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥५॥
सवज्ञोक्ततया वाक्य सत्यं तेन तदस्तिता।
कथ तदुभय सिद्धयेत् सिद्धमूलान्तराद्दते ॥६॥

भावार्थ—सर्वज्ञका होना प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि सर्वज्ञ हम तुमको इस समय दीखता नहीं है। सर्वज्ञ का कोई एक देश (भाग) भी मौजूद नहीं है, जोकि साधनरूप होकर सर्वज्ञका अनुमान करादे ॥१॥ नित्य आगम जो वेद है, उसकी कोई श्रुति भी ऐसी नहीं है, जो सर्वज्ञ का बोध करावे। याग अर्थको कहने वाले मन्त्रों का अभिप्राय भी सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करने के लिये लागू नहीं हो सकता है ॥२॥ याग, स्तोत्र

आदि अन्य अन्य अर्थों को कहने में ही प्रधान (तत्पर) उन श्रुतियों से भी सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध नहीं होता। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि पहले अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से असिद्ध सर्वज्ञ आगमसे कहा भी नहीं जा सकता ॥३॥ वेदका अर्थ सर्वज्ञ सिद्धिके लिये इस कारण भी ठीक नहीं, कि वेद अनादि है और सर्वज्ञ सादि। कृत्रिम (पौरुषेय) शास्त्र तो असत्य होने के कारण सर्वज्ञकी सत्ता यथार्थ रीति से बतला ही कैसे सकता है ॥४॥ यदि यों माना जाय कि सर्वज्ञ के वचनों से ही सर्वज्ञकी मौजूदगी सिद्ध होजायगी सो भी अन्योन्याश्रय दोषसे दूषित होनेके कारण ठीक नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ जब सिद्ध होवे तब उसका वचन प्रामाणिक समझा जाय और उस वचन द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि होवे। तथा सर्वज्ञकी प्रमाणता सिद्ध हुये बिना सर्वज्ञ और उसके वचन, ये दोनों बातें कैसे सिद्ध हो सकती हैं।

इस प्रकार ये ६ श्लोक मीमांसकों ने जैनों के सामने सर्वज्ञकी सत्ता उड़ा देने के लिये कहे हैं। जैसा कि ऊपर लिखे अनुसार उनका अभिप्राय भी पूरे तौरसे निकलता है, किन्तु स्वामी जी ने इस अभिप्राय तक न पहुँचकर यह समझ लिया कि जैनियोंने सृष्टिकर्ता ईश्वरको असिद्ध करनेके लिये ये ईश्वर वादियों के सन्मुख कहे है। ऐसा समझ, उन्होंने इन श्लोकोंका अर्थ बहुत गलत किया है। तीसरे श्लोकके **अन्यार्थप्रधानैस्तैः** इस पदका अर्थ **'अन्यार्थप्रधान अर्थात् बहुब्रीही समास के तुल्य'** कर दिया है; ऐसा ऊटपटांग अर्थ स्वामी जी का

हास्य कराता है। शायद आप लोगोको ध्यान होगा कि जैनियों का और आर्यसमाजका जो पहला शास्त्रार्थ फीरोजाबाद में हुआ था, उसमें आर्यसमाजकी इन्हीं श्लोकों के इस विपरीत अर्थ को सुनाने के कारण हार हुई थी। उस समय सभा के बीचमे स्वर्गीय पं० ठाकुरप्रसाद जी ने जो कि आर्यसमाज को ओरसे शास्त्रार्थ करते थे स्पष्ट कह दिया कि "मैं क्या करूं स्वामी दयानन्द जी ने ही इन श्लोकों का अर्थ करने में भूल की है" अतः ये श्लोक जब तक सत्यार्थ-प्रकाश में मौजूद रहेंगे तब तक स्वामी जी की विद्वत्ता पर धब्बा लगाते रहेंगे।

सन् १८८४ का प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ नं० ४४७—

भुङ्क्ते न केवल न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह ॥

इसका अर्थ स्वामी जी लिखते हैं कि 'दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ इतना ही भेद है कि दिगम्बर लोग स्त्री संसर्ग नहीं करते और श्वेताम्बर करते हैं।' स्वामी जी ने इस श्लोक का अर्थ यही ठीक समझा था, क्योंकि उनके स्वर्गवास होजाने पर भी सन् १८८४ के सत्यार्थप्रकाश में यही छप चुका है। स्वामी जी का स्वर्गवास शायद सन १८८३ में हुआ है। अस्तु, अब यह विचार कीजिये

कि उपर्युक्त श्लोक का जो अर्थ स्वामी जी ने किया है, वह उनकी विद्वत्ता की कितनी हँसी कराता है। आप लोगों में से जो आगरा, मथुरा, देहली, अलीगढ़ आदि यू० पी० में रहते हैं, उन्हें दिगम्बर जैनो के रहन सहनका पूरा पता होगा; बल्कि हमतो यह समझते हैं कि स्वामी जी भी दिगम्बर जैनियों से परिचित होंगे ही। क्या आपने दिगम्बर जैनों को ब्रह्मचारी ही देखा है ? गृहस्थ नहीं देखा ? जिससे कि स्वामी जी का उपर्युक्त अर्थ सगत बैठ सके। जिसने थोड़ी भी संस्कृत भाषा पढ़ी होगी, वह भी कह देगा कि यह अर्थ विलकुल गलत है। क्यों कि 'दिगम्बर लोग स्त्रीसंसर्ग नहीं करते" यह अर्थ इस श्लोक में से किसी भी तरह नहीं निकल सकता है। भुङ्क्ते शब्दसे संभोग करना ऐसा अर्थ निकालना स्वामीजीकी कितनी हँसी कराता है।

श्लोकका अर्थ यह है कि "केवली यानी जीवन्मुक्त आत्मा भोजन नहीं करते हैं और स्त्री मोक्ष प्राप्त नहीं करती ऐसा दिगम्बर मानते हैं और इसके विरुद्ध श्वेतांबर मानते हैं। यही इन दोनों दिगंबर श्वेताम्बर सम्प्रदायों में भेद है।" यद्यपि स्वामी जी का किया हुआ खास अर्थ आपने स्वामी जी की भूल छिपाने के लिये बदल दिया है, किन्तु वह अभी तक गलत है। उसमें 'केवली न भुङ्क्ते' इसका कुछ भी अर्थ नहीं लिखा है।

सत्यार्थप्रकाश के ४५१ वें तथा ४५२ वें पृष्ठपर स्वामीजी

ने लिखा है कि—

"उसका (प्रत्येक वनस्पतिका) देहमान एक सहस्र योजन अर्थात पुराणियों का योजन ४ कोश का, परन्तु जैनियों का योजन १०००० दस सहस्र कोशोंका होता है।.... ... ... जलचर, मच्छी आदि के शरीरका मान एक सहस्र योजन अर्थात १०००० कोशके योजन के हिसाब से एक करोड कोशका शरीर होता है। इसका (जम्बूद्वीपका) एक लाख योजन अर्थात एक अरब कोशका है।" इत्यादि।

ये सभी लेख गलत हैं। जैनसिद्धान्त के बिना समझे ही स्वामी जी ऊटपटांग लिख गये हैं, उन्हें चाहिये था कि यदि जैन धर्म की समालोचना ही करनी है तो कमसे कम लिखने से पहले किसी जैन विद्वान से जैन सिद्धान्तका अध्ययन, अभ्यास कर लेते।

प्रथम तो जैन सिद्धान्त में दश हजार कोश का योजन कहीं माना नहीं गया है, इस कारण स्वामी जी ने जो शरीर परिमाण के कोश दिखलाये हैं वे सभी गलत हैं।

दूसरे—एक हजार योजन के परिमाण वाली कोई वनस्पति (वृक्ष) नहीं मानी गई।

तीसरे—शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना इस मानव क्षेत्र की नहीं, किन्तु स्वयम्भूरमण समुद्र, स्वयम्भूरमण द्वीप आदि की है। जिस मनुष्य ने कभी ह्वेल मछली को नहीं देखा हो

अथवा उसके विषय मे कुछ सुना नहीं हो वह दुराग्रह से कभी नहीं मान सकता कि कोई ३५ गज लम्बी भी मछली होती है। इसी प्रकार स्वामी जी उस क्षेत्र से जब सर्वथा अनभिज्ञ हैं, जहां कि वे दीर्घकाय तिर्यञ्च पाये जाते है तब स्वामी जी की कूपमण्डूक वत् बुद्धि मे भी वह विशाल अवगाहना कैसे समा सकती है। इन बातों का समाधान हम "तीर्थङ्करों को विशालकाय" प्रकरण मे कर आये हैं।

इसी प्रकार स्वामी जी ने और श्लोकों का अभिप्राय भी उलट फेर से निकाला है, जो कि उनकी भारी भूल पर प्रकाश डालता है।

बन्धुओ! वास्तव में बात यह है कि यदि स्वामी जी की विद्वत्ता को निर्मल और सत्यार्थप्रकाश में सत्य प्रकाश रखना है तो इस बारहवें समुल्लास को सत्यार्थप्रकाश से पूरा निकाल डालना चाहिये।

[२१]

स्वामी जी की दयालुता

स्वामी दयानन्द जी ने जैन धर्म के अहिंसा सिद्धान्त पर तथा जैनो के दयापालन पर अनेक जगह आक्षेप किये हैं। धार्मिक और व्यावहारिक दृष्टि से जैन धर्म और जैन धर्मानु-यायियो ने अहिंसा धर्म के द्वारा संसार का कितना भला किया है तथा धर्म के नाम से वैदिक यज्ञों में होने वाली

असंख्य पशुहत्या को रोक कर जो जैन ऋषियों ने भारतवर्ष का कलंक दूर किया उस बात को स्वामी जी भूल गये। अस्तु।

अब हम पाठकोंके सामने 'परमहंस परिव्राजकाचार्य' कहलाने वाले स्वामी दयानन्द जी की दयालुता के कुछ नमूने पेश करते हैं। स्वामी जी अपने सन् १८७५ वाले सत्यार्थ-प्रकाश के भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण में ३०२ तथा ३०३ वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

"जितने मनुष्यों के उपकारक पशु हैं उनका मांस अभक्ष्य तथा बिना होम के अन्न और मांस भी अभक्ष्य है......कोई भी मांस न खाय तो जानवर, पक्षी, मत्स्य और जलजन्तु इतने हैं उनसे शतसहस्र गुने हो जायं फिर मनुष्योंको मारने लगें और खेतों में धान्य ही न होने पावें। फिर सब मनुष्यों की आजीविका नष्ट होने से सब मनुष्य नष्ट हो जायं ......इससे जहां जहां गोमेधादिक लिखे हैं वहां वहाँ पशुओं में नरों को मारना लिखा है।...... गौरनुबन्ध्योग्रोषोमीयः। यह ब्राह्मण की श्रुति है। इसमें पुल्लिङ्ग निर्देश से यह जाना जाता है कि बैल आदिक

को मारना गैया को नहीं।......और जो वन्ध्या गाय होती है उसको भी गोमेधमें मारना लिखा है "स्थूल पृषतीमाग्ने वारुणीमनड्वाहीमालभेत्"। यह ब्राह्मण की श्रुति है। इसमें स्त्रीलिङ्ग और स्थूल पृषती विशेषण से वन्ध्या गाय ली जाती है। क्योंकि वन्ध्या से दुग्ध और वत्स्यादिकों की उत्पत्ति होती नहीं। *और जो माँस न खाय सो दुग्धादिको* से निर्वाह करे। वे भी सब अग्नि में होम के बिना न खाये, क्योंकि जीव मारने के समय पीड़ा होती है उससे कुछ पाप भी होता है फिर जब अग्नि में होम करेंगे तब परमाणु से उक्त प्रकार सब जीवों को सुख पहुंचेगा। एक जीव की पीड़ा से पाप भया था, सो भी थोड़ा सा गिना जायगा।"

जो महाशय अपना नाम 'दयानन्द' रक्खें जिनके अनुयायी भक्त जिनको 'परमहंस परिब्राजकाचार्य' सरीखे महापदों से सुशोभित करें और जो स्वयं जैनधर्म के अहिंसा सिद्धान्त पर बुरी तरह अपशब्दों के साथ आक्षेप करें, किन्तु स्वयं इस प्रकार की आदर्श हिन्सा का पशु वध और मांस-भक्षण का पोच दलीलों से समर्थन करें, यह उनके लिये कहां तक शोभा देता है? इसको स्वयं आर्यसमाजी भाई विचार करें।

"मछलियां मारकर यदि न खावें तो मछलियां बढ़ जावेंगी, कबूतर आदि पक्षी मार कर न खाये जायें तो उनकी तादाद बढ़ कर मनुष्यों के खेतों को खाकर वे समाप्त कर देंगे। वेदों के अङ्ग ब्राह्मण ग्रन्थों में गोमेधादि यज्ञों में जो पशु मार कर होम करना बतलाया है उसमें बांझ (बच्चे न देने वाली) गाय या बैल मार कर होम करना चाहिये तथा बिना होम किये मांस नहीं खाना चाहिये।" इस प्रकार से हिंसा का समर्थन करके उसी पाप मार्ग का स्वामी दयानन्द जी ने पोषण किया जिसके कारण पिछले जमाने में वैदिक मत बदनाम हुआ था।

स्वामी जी ने इन दलीलों द्वारा एक तरह से ईश्वर के ज्ञान को तथा कार्य को भी मात कर दिया। क्योंकि स्वामी जी का अभीष्ट ईश्वर जो काफी से ज्यादा तादाद में मछली, पक्षी पैदा करके स्वार्थी मनुष्य जाति के सुख में खलल डालता है उसकी भूल को स्वामी जी ने अपनी तरकीब से सुधार दिया। इसी प्रकार बांझ गाय और बैल भी स्वामी जी की समझ से शायद व्यर्थ हैं! इस कारण स्वामी जी ने ईश्वर के इस फिजूल काम को गोमेध यज्ञ के रास्ते से सुधार दिया।

मांस खाना स्वामी जी ने अयोग्य नहीं बतलाया, किन्तु शर्त यह है कि वह होम किया हुआ होना चाहिये। क्या अच्छी तरकीब है? धर्म के नाम पर पापमार्ग का प्रचार इसी को कहते हैं।

हमारे आर्यसमाजी भाई यह कहेंगे कि 'स्वामी जी ने अपना पहले ऐडीशनका सत्यार्थप्रकाश रद्द कर दिया था, दूसरे ऐडीशन का सत्यार्थप्रकाश ठीक है, उसमें यह मांस प्रकरण नहीं है।'

इसके लिये निवेदन है कि स्वामी जी के सामने सत्यार्थ-प्रकाश जब दूसरी बार छपा ही नहीं तब कैसे माना जाय कि स्वामी जी ने सुधार कर मांस भक्षण प्रकरण उसमें से निकाल दिया था। सत्यार्थप्रकाश दूसरी बार उनके स्वर्गवास होने पर छपा है। इस कारण वह सुधारा स्वामी जी का ही कैसे कहा जा सकता है ?

दूसरे—सत्यार्थप्रकाश के जितने ऐडीशन होते रहे हैं उनमें एक दूसरे से अन्तर पड़ता रहा है। आर्यसमाज ने जहां कुछ कमज़ोर बात या सुधारने योग्य बात देखी सुधार दी। इसी लिये सत्यार्थप्रकाश के आज तक के सभी ऐडीशनों का लेख एक सरीखा नहीं मिलता, सब में अन्तर (फर्क) है। इस कारण क्या प्रमाण है कि स्वामी जी का पहला सत्यार्थप्रकाश आर्य-समाज ने ही नहीं सुधारा तथा उसमें मांस का प्रकरण अनुचित समझ कर नहीं निकाल दिया ?

तीसरे—आर्यसमाज लाहौर के भूतपूर्व मन्त्री श्रीयुत महात्मा धर्मपाल जी ने उर्दू में सत्यार्थप्रकाश छपाया था (जब कि वे कट्टर आर्यसमाजी थे; इसी कारण महात्मा का पद पाये हुए थे) उसकी भूमिका में उन्हों ने लिखा था कि "स्वामी दयानन्द का बनाया हुआ सत्यार्थप्रकाश तो प्रथमावृत्ति (पहला

छपा हुआ) ही है। दूसरी बार छपाया हुआ सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द का बनाया नहीं, किन्तु, आर्यसमाज का बनाया है" (पं० कालूराम जी लिखित सत्यार्थप्रकाश की छीछालेदर से उद्धृत) जब एक कट्टर आर्यसमाजी अपनी कलम से यों लिखता है तब कोई कारण नहीं कि स्वामी जी का असली सत्यार्थप्रकाश सन् १८७५ ई० का छपा हुआ पहला सत्यार्थप्रकाश ही न माना जाय। अस्तु।

[२१]

सभ्यभाषण के कुछ उदाहरण।

सज्जनो! स्वामी जी ने जैनियों पर एक यह आक्षेप किया है, कि जैन लोग अजैन पुरुषों के लिये अपशब्दों का प्रयोग किया करते है, जैसाकि उन्हो ने सत्यार्थ प्रकाश के ४६८ वें पृष्ठ पर लिखा है कि "तुम्हारे मूल पुरुषोंसे लेके आज तक जितने होगये और, होंगे उन्हों ने विना दूसरे मत को गालिप्रदान के अन्य कुछ भी दूसरी बात न की और न करंगे।" इसके उत्तर में हम केवल यही लिख देना चाहते हैं कि यदि किसी जैन ने दूसरे मतानुयायियों के लिये असभ्य शब्द प्रयोग कर दिया है (?) तो वह तो स्वामी जी बहुत शोघ्र लिख गये; किन्तु उन्होंने अपनी लेखनीमे अन्यमतावलम्बियों के, उनके गुरू विद्वानों

आदि के लिये जो सभ्यता से बहिर्भूत शब्दावली निरंकुशता के साथ लिख डाली है, उसे उन्होंने कुछ नहीं देखा।

हम स्वामी जी के मधुरभाषण के कुछ और नमूने सन् १८८४ के प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश से लेकर रखते हैं जोकि उस में अभी तक हैः—

(१) "आंख के अन्धे गांठ के पूरे उन दुर्बुद्धी पापी स्वार्थी"
(पृष्ठ ३१—सत्यार्थप्रकाश का)

(२) "वाह रे, झूठे वेदान्तियो" (पृष्ठ २३५)

(३) "वाह रे, गडरिये के समान झूठे गुरु" (पृष्ठ २८०)

(४) "जिसकी हृदय की आँखें फूट गई हों" (पृष्ठ २६२)

(५) "उन निर्लज्जों को जरा भी लज्जा नहीं आई"
(पृष्ठ २६८)

(६) "मुनि वाहन भंगीकुलोत्पन्न यावनाचार्य यवनकुलोत्पन्न शठकोप नामक कंजर" (पृष्ठ २६६)

(७) "अन्धे धूर्त" (पृष्ठ ३०५)

(८) "भठियारे के टट्टू कुम्हार के गधे" (पृष्ठ ३१२)

(९) "ऐसे गुरु और चेलों के मुख पर धूल और राख पड़े"
(पृष्ठ ३३६)

(१०) "तुम भाट और खुशामदी चारणोंसेभी बढ़कर गप्पीहो"

(११) "भांड धूर्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं।"
(पृष्ठ ४०२

(१२) सबसे वैर-विरोध, निन्दा, ईर्षा आदि दुष्ट कर्मरूप

सागर में डुबाने वाला जैनमार्ग है। जैसे जैनी लोग सब के निंदक हैं, वैसा कोई भी दूसरे मतवाला महा-निंदक और अधर्मी न होगा। (पृष्ठ ४३१)

(१३) "पाखंडों का मूल ही जैनमत है" (पृष्ठ ४४०)

स्वामी जी जैसे अपने को परमहंस परिव्राजक समझते उसी तरह वे अपने को दूसरों के लिये एक नम्बर का सभ्यवक्ता भी मानते होंगे। अन्य मतानुयायियों के प्रति उन्हों ने कैसे मनोहर सभ्य शब्दों का प्रयोग किया है? इसका हम विशेष उल्लेख करना व्यर्थ समझते हैं। इस विषय पर प्रकाश डालने के लिये सारा सत्यार्थप्रकाश पड़ा है, जिस में कि अपने सिवाय शेष सभी विद्वानों को मूर्ख, विद्या के कट्टर शत्रु, बकरी चराने वाला, भोंदू, भटियारे का टट्टू आदि शब्दों से पुकारा है। स्वामी जी इस बात को यहां तक ले गये हैं, कि जैनों के ईश्वर तर्थंकरों को भी उन्होंने अविद्वान लिखना नहीं छोड़ा है। स्वामी जी को कम से कम ऐसे स्थानों पर तो अपनी लेखनी को लगाम चढ़ानी चाहिये थी, किन्तु उन्होंने ऐसा करना अपनी सभ्यता से बाहर की बात समझी। शायद स्वामी जी ईश्वर के समान अपने आपको सर्वज्ञ मानते हैं। अस्तु। संसारमे जैन तीर्थंकर कितने परमपूज्य हैं इसके लिये हम एक अजैन विद्वान की लिखित सम्मति साररूपमें नीचे उद्धृत करते हैः—

"भारत प्रसिद्ध श्री शिवव्रतलाल जी बर्मन, एम० ए०, जो

कि साधु, सरस्वती भण्डार, तत्वदर्शी, मार्तण्ड, सन्तसन्देश आदि उर्दू तथा हिंदी पत्रों के सम्पादक और अनेक ग्रन्थों के मूल लेखक तथा अनेक के अनुवादक हैं, महावीर स्वामी का पवित्र जीवन यों लिखते हैं —

'गए दोनों जहान नज़र से गुज़र,
तेरे हुस्न का कोई बशर न मिला'

यह (महावीर तीर्थङ्कर) जैनियों के आचार्य गुरू थे; पाकदिल, पाकख्याल, मुजस्सिम—पाकीज़गी थे। हम इनके नाम पर, इनके काम पर और बेनज़ीर नफ्सकुशी व रियाज़तकी मिसाल पर जिस कदर नाज़ (अभिमान) करें बजा है। हिंदुओ ! अपने इन बुज़ुर्गों की इज़्ज़त करना सीखो .... तुम इनके गुणों को देखो, उनकी पवित्र मूर्ति का दर्शन करो, उनके भावों को प्यार की निगाह से देखो, वह धर्म—कर्म की झलकती हुई, चमकती-दमकती मूर्त हैं।.. .... उनका दिल विशाल था; वह एक बेपायाकनार समन्दर था, जिसमें मनुष्य प्रेम की लहरें ज़ोर—शोर से उठती रहती थीं और सिर्फ मनुष्य क्यों ? उन्हों ने संसार के प्राणीमात्र के लिये सबका त्याग किया, जानदारों का खून बहता रोकने के लिये अपनी जिन्दगी का खून कर दिया। यह अहिंसा की परमज्योति वाली मूर्तियां हैं।

यह दुनियां के ज़बरदस्त रिफार्मर, ज़बरदस्त उपकारी और बड़े ऊंचे दर्जे के उपदेशक और प्रचारक गुज़रे हैं। यह

हमारी कौमी तवारीख के कीमती रत्न हैं। तुम कहां और किन में धर्मात्मा प्राणियों की खोज करते हो। इन्हीं को देखो, इनसे वेहतर साहवे कमाल तुम को और कहां मिलेंगे। इनमें त्याग था, इनमें वैराग्य था इन मे धर्म का कमाल था, यह इन्सानी कमज़ोरियों से बहुत ऊ चे थे। इन का खिताब "जिन" है जिन्हो ने मोहमाया को और मन और काया को जीत लिया था, यह तीर्थंकर हैं। इनमें बनावट नहीं थी, दिखावट नहीं थी, जो बात थी साफ-साथ थी। ये वह लासानी शखसीयतें होगुजरी हैं, जिनको जिसमानी कमज़ोरियों व ऐबों को छिपाने के लिये किसी ज़ाहिरी पोशाक की ज़रूरत लाहक नहीं हुई; क्योंकि उन्होंने तप करके, जप करके, योग का साधन करके, अपने आप को मुकम्मिल और पूर्ण बना लिया था।" इत्यादि—

प्यारे आर्यबन्धुओ! यह तो एक निष्पक्ष अजैन विद्वान की सम्मति है, जो कि उसने श्री महावीर तीर्थङ्कर के पवित्र जीवन पर प्रकाश डालने के लिये लिखी है, किन्तु आप भारतवर्ष के इतिहास को जा कर भी जरा पूछिये कि जैन—तीर्थङ्करों ने कितने महत्वशाली कार्य किये थे। वह भी आपको संतोषजनक उत्तर देगा। भारतवर्ष में, जिस समय वैदिकधर्म सर्वत्र फैल गया था, तब स्वार्थान्ध पुरोहितों की प्रेरणा से अज्ञानी मदान्ध यजमान वेदमन्त्रों द्वारा वैदिकयज्ञ कराते थे, उसमें हजारों

बकरे, बकरी, गाय, घोड़े यहां तक कि मनुष्य भी मार कर हवन कर दिये जाते थे। खून की नदियां बहती थीं, मांस की लोथें यज्ञशालाओं में सर्वत्र पड़ी मिलती थीं, दूसरे जीवों के प्राण फल फूल की तरह समझे जाते थे; अपनी उदर-पूर्ति के लिये वेदों में सैकड़ों मन्त्र, गोवध, अश्ववध, अजावध, मांस भक्षण के लिये मन्त्र मिला कर वेदोंको, ईश्वरको तथा अन्यान्य देवी देवताओं को बदनाम किया जाता था। उस समय इन श्री महावीर तीर्थङ्कर की वीरता का ही प्रभाव पड़ा, कि ऐसे भयानक दुष्ट अत्याचार भारतवर्ष से दूर हुए और अहिंसा धर्म का झण्डा फहराया—अनाथ निरपराध पशुओं को निर्भय बनाया। स्वामी जी को इन उपकारों का ध्यान रख कर, जैन तीर्थङ्करों का आभार मान कर उन की हृदय से प्रशंसा करनी चाहिये थी, किन्तु स्वामी जी ने ऐसा नहीं किया, सो तो एक ओर रहा, प्रत्युत स्वामी जी ने ऐसे असभ्य अनुचित शब्दों से उनका आदर किया, जो कि सत्पुरुषों के द्वारा उच्चारण करना सर्वथा अयोग्य है।

माननीय स्वर्गवासी भारतीयनररत्न लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने बड़ौदा के व्याख्यान में कहा था—

'पूर्वकाल में यज्ञ के लिये असंख्य पशुहिंसा होती थी, इसके प्रमाण मेघदूत काव्य आदि अनेक ग्रन्थों से मिलते हैं · · परन्तु इस घोर हिंसा का ब्राह्मण धर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैनधर्म के हिस्से में है। ब्राह्मण धर्म को जैनधर्म ही ने अहिंसाधर्म बनाया। ब्राह्मण व हिन्दूधर्म में जैनधर्म के ही

प्रताप से मांसभक्षण और मदिरापान बन्द हो गया। ....
ब्राह्मण धर्म जैनधर्म से मिलता है इस कारण टिक रहा है।
बौद्धधर्म का जैनधर्म से विशेश अमिल होने के कारण हिन्दुस्थान से नामशेष हो गया।"

आप लोग बुद्धिमान, विचारशील हैं। इस कारण आप के सामने यह संकेत ही बहुत है, आप लोग इसी सकेत से सब कुछ खोज सकेंगे, ऐसी पूर्ण आशा है ।

[२३]

जैनधर्म का संक्षेप परिचय !

पवित्र भारत भूमिमें उन महान व्यक्तियोंका अवतार हुआ है जिन्होंने अपने पुण्यकार्योंसे विश्वका कल्याण किया। तदनुसार इस आर्यक्षेत्र में श्री रामचन्द्र कृष्ण आदि ऐतिहासिक प्रख्यात पुरुषों से भी करोडों वर्षो पूर्व के जमाने में महाराज **नाभिराय** के यहां श्री ऋषभदेव जी ने अवतार लिया था। आपने गृहस्थाश्रम मे रह कर राज्यशासन करते हुए बहुत से हित कर आविष्कार किये थे। तदनन्तर अपने बड़े पुत्र **भरत** को, जो कि यहां पर सब से प्रथम विश्वविजेता चक्रवर्ती हुए हैं और जिनके नाम से इस देश का नाम भी भारतवर्ष रक्खा गया, राज्यभार सौंप कर आप समस्त परिग्रह (सांसारिक पदार्थ-यहां तक कि शरीर का वस्त्र भी) छोड कर दिगम्बर (वस्त्ररहित नग्न) मुनि हो गये उस मुनिमार्ग मे रह कर आपने घोरतपस्या करके काम क्रोध लोभ माया आदि दोषों पर तथा

कर्मों पर विजय प्राप्त की और सर्वज्ञ हो कर सर्वत्र धर्म का प्रकाश किया। कषाय (काम क्रोधादि) तथा कर्म आदि को जीत लेने के कारण आप का नाम "जिन" (कर्मकषायादिकं जयतीति जिनः) प्रसिद्ध हुआ। इसी निमित्त से आपके प्रचारित धर्म का नाम भी "जैन" (जिनस्य धर्मो जैनः, जिनो देवता यस्येति वा जैन) रक्खा गया। तदनुसार उनके पीछे जब जब भी अवतारस्वरूप श्री अजितनाथादि तीर्थङ्करों ने तथा उनके समान अन्य जीवन्मुक्त अरहन्तों ने भी इस धर्मका उद्धार किया तब तब उनका नाम जिन और उनके प्रचारित धर्म का नाम जैनधर्म ही रहता आया। सारांश यह है कि इस धर्मके जन्मदाता और उद्धारकों का नाम जिन होने के कारण इस धर्म को जैनधर्म कहते हैं।

जैनधर्म का सब से प्रथम मूल उपदेश यह है कि जो कुछ कार्य करो परीक्षा पूर्वक करो। जिस धर्म के परिपालन से इस आत्मा का उद्धार होता है उस धर्म को भी किसी के कहने सुनने से नहीं, किन्तु अपने बुद्धिबल से पूरे तौर परीक्षा करके स्वीकार करो। तदनुसार जैनधर्म का सच्चापन, झूठापन जांचने के लिये हम उसका भीतरी मामला आपके सामने रखते हैं। धर्म की जांच के लिये प्रथम उस धर्म के देव, गुरू और शास्त्र की परीक्षा करना आवश्यक है। यदि परीक्षा में जिसके यह तीनों पदार्थ सत्य साबित हुये तो स्वतः वह धर्म भी सत्य प्रमाणित हो जाता है और जहां देव, शास्त्र, गुरू ही

परीक्षा में फेल हुए वहां धर्म को भी स्वतः फेल होना पड़ता है। तदनुसार प्रथम ही जैनधर्म के माने हुए जिनदेव की परीक्षा कर देखिये—

जिनदेव यद्यपि दो प्रकार के है—एक पूर्णमुक्त जिनको कि सिद्ध भी कहते है, दूसरे सिद्ध होने से पहले की दशा वाले जीवन्मुक्त जिनका अपरनाम अरहन्त (अर्हन्) भी है। किंतु हम यहां "अरहंत जिन" का परिचय देते है क्योंकि धर्मोपदेशक ये ही हैं। अरहंत का संक्षेप परिचय तीन गुणों से मिलता है—वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता। अर्थात अरहन्त देव एक तो वीतराग होते है, यानी राग, द्वेष, मोह, मद, मात्सर्य माया, भूख, प्यास आदि दोषो से रहित होते हैं। समस्त जीवो मे तथा समस्त पदार्थों मे समदर्शी (समान, जैसे का तैसा देखना, किसी को अच्छा किसी को बुरा न समझना) होते हैं। कोई जीव आकर उनकी प्रशंसा करे तो उसमे प्रसन्न नहीं होते और निन्दा करने वाले पर अप्रसन्न नहीं होते। रागवश न तो किसी का कुछ सांसारिक स्वार्थ बनाते हैं और न द्वेषवश किसी का कुछ बिगाड ही करते हैं। इस कारण उन्हें वीतराग भी कहते है।

इसी प्रकार ज्ञानरोधक (ज्ञानावरण) कर्म के पूर्ण नष्ट हो जाने से उन अरहंत का आत्मा पूरे तौर से निर्मल हो जाता है। उसकी पूर्ण शक्ति जो कर्म के परदे से छिपी हुई थी प्रगट

हो जाती है। इस कारण उस अतीन्द्रिय (केवल नामक) ज्ञान के द्वारा वे विश्ववर्ती सब पदार्थों को स्पष्ट जानते हैं अर्थात् जो कुछ हो चुका है, जो कुछ हो रहा है और आगे जो कुछ होगा वह सभी बात अरहन्त अपने केवल ज्ञान से जानते हैं। इस लिये उन्हें सर्वज्ञ भी कहते हैं।

अपने समीप आये हुए समस्त जीवों को संसार दुःख का अन्त करने वाला और मोक्ष सुख को प्राप्त कराने वाला अनुपम कल्याणकारी उपदेश देते हैं जिससे कि जीव सन्मार्ग पर चल कर सुख शान्ति लाभ करते हैं। इस कारण अरहंत देव को हितोपदेष्टा भी कहते हैं।

वीतराग निर्विकार होने के कारण वे न तो अपने भक्ति करने वाले पुरुष को प्रसन्नतावश स्वर्ग पहुंचाते हैं और न निन्दा करने वाले पुरुष को नाराज़ होकर नरक पहुँचाने का उद्योग करते हैं, न तो वे संसार का कुछ बनाते हैं और न बिगाड़ते ही है। वीतराग, सर्वज्ञ होने के कारण उन के उपदेश में किसी प्रकार की असत्यता भी नहीं आ पाती है। ऐसे अरहंत देव जैन धर्म के पूजनीय देव हैं।

जैन शास्त्र का जिसको कि आगम जिनवाणी आदि भी कहते हैं संक्षेप समाचार यह है —

अरहन्त देव ने जैसा कुछ धर्म का उपदेश दिया है, पदार्थों का और विश्व का जैसा स्वरूप बतलाया है, प्रमाण नय

आदि को जिस रूप से कहा है, उसी के अनुसार जिसकी रचना हुई है उसे जैन शास्त्र कहते है। जिस मे कि पूर्वापर (आगे पीछे) कहीं विरोध न पाया जावे यानी कहीं हिंसादि निन्द्य कार्यो की निन्दा और कहीं उन्हीं की प्रशंसा न की गई हो, सर्वत्र पूर्वापर अविरोध रूप से कथन हो, जिस मे लेशमात्र भी किसी भी जीव को कष्ट पहुचाने का कर्तव्य न बतलाया हो, ऐसी अप्रामाणिक बातो की जिसमे गन्ध भी न हो, जो कि प्रमाण परीक्षा में असत्य ठहरे, अनेकान्त सिद्धान्त पर जिसकी नीव पड़ी हो, ऐसा शास्त्र जैनशास्त्र है। तदनुसार जितने भी (हजारों) जैन (दिगम्बर जैन) शास्त्र है उपर्युक्त बातें उन मे विद्यमान है।

गुरू शब्द का अर्थ गौरवशाली पुरुष है। तदनुसार विद्या गुरू, वयोगुरू, सम्बन्धगुरू आदि कई प्रकार के गुरू होते है, किन्तु यहां पर गुरू शब्द से दीक्षागुरू का प्रयोजन है। यानी जिस का उपदेश देव के उपदेश सरीखा प्रमाण माना जाता हो, जिस के पास व्रत नियम प्रतिज्ञा आदि ली जांय, जिस की आज्ञा को उस धर्म के समस्त अनुयायी शिरोमान्य करें। जैन गुरू का वेश दिगम्बर (नग्न) होता है। ये संसार को असार जान कर गृहस्थ आश्रम को छोड साधुमार्ग पर चलते है। सांसारिक पदार्थों से मोहभाव छोड कर वे अपने पास वस्त्र तक भी नहीं रखते, अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त करते है जिस की कि परीक्षा उनके नग्न शरीर से मिलती है।

क्योंकि इन्द्रियों का विकार वस्त्रों के भीतर छिपा रहता है। जो रात दिन अपने ज्ञान ध्यान तपश्चर्या मे लवलीन रहते हैं, छोटे बालक के समान निर्विकार शान्तचित्त होते हैं, विषय भोगों को पूर्णतया ठुकरा देते हैं, शत्रु मित्र, सोना मिट्टी, वन नगर, प्रशंसा निन्दा, जिनकी निगाह में समान रहती है। न तो किसी से प्रेम है न किसी से द्वेष है। वे न तो किसी को अफीम का ठेला, न सट्टे का भाव और न रूई अलसी गल्ले आदि की मन्दी तेजी बतलाते हैं, न किसी को मारण वशीकरण आदि का मन्त्र सिखलाते हैं। किन्तु जो उनके पास आता है उसे जीवों पर दया उपकार करने का, सत्य बोलने का, माया मिथ्या मार्ग छोडने का ही उपदेश देते हैं। जो स्वयं कष्ट सह लेते हैं किन्तु अपने लिये किसी अन्य जीव को कष्ट पहुचाना उचित नहीं समझते, ऐसे पूज्य महात्मा जैनगुरू होते हैं।

जैनधर्म की प्रगति के कर्णधार ये ही देव, शास्त्र, गुरू नामक तीन पदार्थ है। इन्हें कोई भी निष्पक्ष परीक्षक अपनी परीक्षा में असत्य नहीं ठहरा सकता। ऐसी हमें पूर्ण आशा ही नहीं, किन्तु निश्चय है। अतः जैनधर्म सच्चा है या झूठा, इस बात का निर्णय यहाँ पर भी हो जाता है।

अब हम जैनधर्म को चरित्र की दृष्टि से कुछ दिखलाते हैं जो पुरुष उपर्युक्त अरहंतदेव को अपना आराध्य देव, जैनशास्त्र को माननीय शास्त्र और जैनगुरू को अपना पूज्यगुरू

समझना है अर्थात जिसको जैनदेवगुरू शास्त्रपर श्रद्धा (विश्वास) है उसको **जैन** कहते है। जो जघन्य (सब से कम) दर्जे का जैन होता है उसे **पाक्षिक** (केवल जैनधर्म का पक्ष रखने वाला) **जैन** कहते हैं उसे भी कम से कम आठ मूलगुण प्राप्त करने होते है। उन गुणों के नाम ये है—

१— शराब पीने का त्याग।

२— मांस भक्षण नहीं करना।

३ — मधु (शहद) नहीं खाना; क्योंकि इसमें मक्खियों के अगणित अण्डों, बच्चों का कलेवर मिला होता है तथा यह खुद मक्खियों के मुख का उगला हुआ रस होने से भी असंख्य जीवों का योनिस्थल बना रहता है इसके सिवाय हज़ारों मक्खियों तथा उनके बच्चों का प्राणान्त करके यह मधु लाया जाता है। अत: शहद मांस के समान दोषयुक्त है।

४— बडफल (बरगद) ५— पीपलफल ६— गूलर ७— ऊमर ८— कठूमर इन पांच फलों के भक्षण करने का त्याग। क्योंकि ये फल वृक्षो के दूध से उत्पन्न होते है इस कारण इनके अन्दर अनेक उडने रेंगने वाले जीव होते है। इस तरह ये ८ मूलगुण है।

इसके सिवाय उसको तीन नियम और भी पालनीय है। एक तो प्रतिदिन देवदर्शन करके भोजन करना, दूसरे पानी वस्त्र से छान कर पीना, क्योंकि पानी में असंख्य छोटे २ कीडे होते

है। तीसरे-रातको भोजन नहीं करना, क्योंकि मनुष्य एक तो निशाचर न होकर दिवाचर है। दूसरे रात्रिको भोजन करने में उन छोटे २ जीवों को भी उदर मे पहुचना पडता है जो कि दिन में सूर्यकी गरमी से बाहर न निकल कर सूर्यास्त पर ही निकलते है। जघन्य जैन कमसे कम रातको अन्नकी वस्तु खाना अवश्य छोड़ देता है।

इस प्रकार सबसे नीची श्रेणीका जैन भी मद्यपान, मांस-भक्षण आदि लोकनिन्द्य घृणित दोषो से बचा रहता है।

इसके आगे व्रत नियम पालने वालों की ११ श्रेणियां हैं; जिनके कि उत्तरोत्तर आचरण बढ़े चढ़े होते है। उनमे से दूसरी श्रेणी से ही पांच अणुव्रत (लघुव्रत) धारण किये जाते हैं। इनमे से प्रथम अणुव्रत का नाम अहिंसा है। त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा को छोड़ना अहिंसा अणुव्रत है। यानी—गृहस्थाश्रम मे रहने वाले मनुष्य से हिंसा चार तरह होती है। एक तो विरोध से—पारस्परिक लडाई झगड़े व फौजदारी से, आक्रमणकारी से प्राणरक्षा के निमित्त जो हिंसा हो। दूसरे—व्यापार से अर्थात्—व्यापार मे जो जीवों का घात हो वह। तीसरे आरम्भ से—यानी भोजन पकाना, झाडना, पीसना कूटना आदि घरेलू कार्यों से जो जीवों का प्राणनाश हो वह। इन तीनो कार्यों में अपने मानसिक भावों से हिन्सा नहीं की जाती है, किन्तु लाचारी वश होती है। चौथी संकल्प से हिन्सा होती है अर्थात इरादा करके जान बूझ कर निरपराध

जीव का प्राणनाश करना। ऐसी हिंसा त्रस जीवों [दो इन्द्रिय आदि जीव जिनके शरीर में खून मांस होता है। एकेन्द्रियवृक्ष आदि के शरीर मे खून मांस नहीं है, इस कारण उन के (फल फूल आदि) खाने मे माँसभक्षण का दोष नहीं है] की जैन गृहस्थ नहीं करता है अर्थात—जैनगृहस्थ जानबूझ कर निरपराध त्रस जीव को नहीं मारता है। यह अहिंसा अणुव्रत है। इस व्रत के अन्दर जैनगृहस्थ को अपनी प्राणरक्षा के निमित्त आक्रमणकारी के आक्रमण को रोकने का अवसर है। तदनुसार चन्द्रगुप्त आदि अनेक जैन राजाओं ने अपने शत्रु का सामना करके उन्हें पराजित किया था।

दूसरा सत्य अणुव्रत है—जिस भारी झूठ बोलने से पंचायत दण्ड दे सके, राजा अपराधी बना सके अथवा जिस वचन के कहने से किसी का प्राणबध होता हो ऐसे वचन नहीं बोलना सो सत्य अणुव्रत है।

तीसरा अचौर्य अणुव्रत—अर्थात जिस वस्तु का कोई एक स्वामी नहीं, सर्वसाधारण के काम में आती है ऐसे मिट्टी, जल आदि पदार्थों के सिवाय अन्य कोई भी दूसरे का पदार्थ बिना पूछे नहीं लेना—अथवा राजदण्डनीय, पंचदण्डनीय चोरी का छोड़ना सो अचौर्य अणुव्रत है।

चौथा ब्रह्मचर्य अणुव्रत—अन्य पुरुषों की स्त्रियों के साथ विषय भोग का त्याग करना। अथवा अपनी विवाहित पत्नी के सिवाय अन्य किसी से विषयभोग नहीं करना। उनको

पुत्री, बहिन, माता समान समझना सो ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

पांचवां परिग्रह परिमाण अणुव्रत—अपने योग्य धन-धान्य मकान आदि सांसारिक पदार्थों की मर्यादा करके शेष पदार्थों का छोड देना सो परिग्रह प्रमाण नामक पांचवां अणुव्रत है। इन पांच अणुव्रतो को दूसरे दर्जे का जैनगृहस्थ पालता है।

यह नीचे दर्जे के गृहस्थ का संक्षेप वृत्तान्त है। ऊंचे दर्जे वालों का बहुत भारी आचरण है। पुस्तक अधिक बढ़ जाने के भय से उसे यहीं पर समाप्त करके अब मुनिचारित्र का कुछ दिग्दर्शन कराते है—

ग्यारहवें दर्जे का जो सब से ऊंचा जैनगृहस्थ होता है उससे आगे की श्रेणी मुनिधर्म नाम से कही जाती है। जो महानुभाव संसार की असारता जान कर सांसारिक भोग-विलासो से बिलकुल उदास हो कर मुनिधर्म स्वीकार करते हैं वे घरबार छोड़ कर वन में निवास करते हैं और २८ मूल-गुणों को पालते है जिनमें से हम यहां पर उनके केवल पांच महाव्रतों का ही उल्लेख करते हैं।

अहिंसा महाव्रत—त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा का पूरे तौर से त्याग करना **अहिंसा महाव्रत** है यानी मुनि (साधु) उपर्युक्त चारो हिंसाओ को त्याग कर किसी भी छोटे बड़े जीव का घात नहीं करते हैं।

सत्य महाव्रत-किसी भी प्रकारका लेशमात्र भी असत्य

भाषण न करना सत्य महाव्रत है। विशेष इतना है कि जिस सत्य भाषण से किसी जीव का प्राण नाश होता है वहां पर कुछ भी बचन न कह कर मुनि मौनधारण कर लेते है।

अचौर्य महाव्रत—तिनके मात्र भी अन्य पुरुषकी वस्तु न लेना सो अचौर्य महाव्रत है। इस व्रत के अनुसार जिस पर किसी व्यक्ति विशेष की मालिकी नहीं है ऐसे गुफा, मठ आदि स्थानों में मुनि निवास कर सकते है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत– विषयभोग का पूरे तौर से (मन वचन काय से) त्याग कर देना तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य को निर्दोष रूपसे पालना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

परिग्रहत्याग महाव्रत—सांसारिक पदार्थों का यहां तक कि वस्त्र को भी छोड़ कर दिगम्बर (दिशारूपी) वस्त्रों का पहनना-नग्न हो जाना परिग्रहत्याग महाव्रत है।

इन मुनियो (जैनगुरुओं) के पास एक कमण्डलु जिसमें कि शौच के लिये पानी रहता है एक शास्त्र जिसका कि अभ्यास करते हैं और मयूरपिच्छिका, जो कि मोर के पंखों की बनी होती है (जिससे उठने बैठने के स्थान को झाड़ते हैं,) इन तीन चीज़ों के सिवाय और कुछ नहीं होता है। ये चीजें भी उन्हें गृहस्थ जैनों से प्राप्त होती हैं। वे पूर्ण इन्द्रियविजयी होते हैं, क्योंकि सुन्दरी लावण्यपूर्ण युवतियों को देख कर जो

मन में विकार होता है वह इन्द्रियों पर प्रगट हो जाता है, उन मुनियों के दर्शनार्थ आई हुई हज़ारों स्त्रियो के निमित्त से जिनके नग्न शरीर पर कदापि ज़रा भी विकार प्रगट नहीं हो पाता है। यद्यपि नग्न शरीर से गर्मी सर्दी सह लेना सरल है, किन्तु इस प्रकार इन्द्रियविकार को रोक देना बहुत कठिन है। उन की नग्न मूर्ति ऐसी दीख पड़ती है जैसे २-४ वर्ष का नङ्गा बालक। क्योंकि यौवनदशा के कामविकार को लज्जावश छिपाने के लिये ही वस्त्र द्वारा इन्द्रियों के ढकने की आवश्यकता है और ऐसे ही सविकार पुरुष के नग्न शरीर को देख कर स्त्री पुरुषों के हृदय मे दुर्भाव उत्पन्न हो सकता है। किन्तु जिन्हों ने कामदेव पर पूर्णविजय पाकर काम विकार अपने शरीर से विदा कर दिया है, उन्हें क्या तो वस्त्र द्वारा इन्द्रियों के ढकने की आवश्यकता है? और क्यों उनके निर्विकार नग्न शरीर को देख कर स्त्री पुरुषों के मन में दुर्भाव उपजे?

वे मुनि भोजनार्थ नगर में आते हैं। जो जैन गृहस्थ भक्तिपूर्वक अपने घर भोजन करने की प्रार्थना करे उसके घर विधि पूर्वक खड़े होकर अपने हाथों में लेकर दिन में एक बार भोजन करते हैं। जीव रहित भूमि पर रात्रि के चौथे पहर कुछ थोड़ा सोते हैं। शेष सारे समय में आत्म ध्यान, जिनदेवस्तवन शास्त्र अभ्यास, उपदेश, पढ़ाना, ग्रन्थरचना आदि पवित्र कार्य करते हैं। इस प्रकार उनका पवित्र जीवन बहुत ऊंचा, पूर्ण-स्वाधीन, निर्द्वन्द्व होता है। ऐसे दिगम्बर मुनि आज कल भी

मेवाड तथा दक्षिण महाराष्ट्र, कर्णाटक यू० पी० आदि प्रान्तों मे विद्यमान हैं। ५—६ वर्ष पहले एक श्री अनन्तकीर्ति जी नामक दिगम्बर मुनि कर्णाटक से आगरा आये थे, जो कि मुरेना (ग्वालियर) में स्वर्गवासी हुए हैं।

जैनियों की जैनधर्मानुसार ऐसी संक्षिप्त चर्या है। अब हम इस विषय को संकोच कर इसी स्थान पर समाप्त कर के निवेदन करते हैं कि यह चरणानुयोग की अपेक्षा (चरित्र के अनुसार) जैन धर्म का स्वल्प सार है।

अब कुछ द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से जैन धर्म का दिग्दर्शन कराते हैं। यह विषय इस लिये लिख देना आवश्यक दीखता है कि स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश में जैन सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित छह द्रव्यों पर भी कुछ टीका टिप्पणी की है। अत —

विज्ञ सज्जनो ! जो चीज गुण पर्यायस्वरूप होती है, उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य के साथ जो सदा कायम रहें उन्हें गुण कहते है, जैसे ज्ञान आदि। उन गुणों की जो नई नई अवस्थायें उत्पन्न होती रहती है और पुरानी २ नष्ट होती रहती हैं उन्हें पर्याय कहते हैं, जैसे बाल्य, यौवन आदि दशायें। इस कारण द्रव्य अपने गुणों की अपेक्षा नित्य, एक स्वरूप कहा जा सकता है और अपनी पर्यायो की अपेक्षा वही अनित्य भी कहा जाता है। इस विषय पर पीछे कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। अत इसे यहीं पर छोड कर आगे पैर रखते हैं।

द्रव्यके मूल भेद दो है— एक जड, दूसरा जीव। जीव

द्रव्य ज्ञान दर्शनादि गुणों सहित एक ही प्रकार का है, किन्तु जड़ द्रव्य भिन्न २ प्रकार के गुणों की अपेक्षा पांच तरह का है— पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जो वर्ण रस, गन्ध और स्पर्श गुणों वाला है, यानी जो द्रव्य हमारे नेत्र, जिह्वा नाक, चर्म और कान आदि इन्द्रियों से जानने में आता है, उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं। अर्थात संसारमें जो कुछ दीख पडता है वह सब पुद्गल (Matter) है। पुद्गल द्रव्य का सबसे छोटा टुकड़ा परमाणु होता है। और उन ही दो, तीन, चार आदि अनेक परमाणुओं का पिंड स्कन्ध कहलाता है। पुद्गल द्रव्य परमाणु और स्कन्ध कहलाता है। पुद्गलद्रव्य परमाणु और स्कन्ध रूपमे सब जगह भरा हुआ है। जीव और पुद्गल द्रव्यको चलने में (हलन चलन मे) जो सहायक होता है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। इसी प्रकार जो द्रव्य जीव पुद्गलों को ठहरने में (एक स्थान पर स्थिर रहनेमें) सहायता करता है उसको अधर्म कहते हैं। ये दोनों द्रव्य लोकमें अखण्ड व्यापक है। जिसके निमित्त से समस्त द्रव्य अपनी हालतें बदलते है, उसे कालद्रव्य कहते हैं। कालद्रव्य खण्ड खण्डरूपसे सब जगह भरा हुआ विद्यमान है (खण्ड खण्डरूप होने से ही इसे अस्तिकाय नहीं कहते है) जिसके भीतर समस्त द्रव्य निवास कर रहे हैं उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। आकाश सब ओर अनन्त है। उसके अन्दर जहां तक पुद्गल द्रव्य रहते है, वहां तक लोकाकाश और उसके बाहर अलोकाकाश कहते हैं।

इन छह द्रव्यों को युक्तियां द्वारा निम्न लिखित तरहसे सिद्ध किया जाता है।

जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं क्योंकि प्रत्येक चेतन शरीर के भीतर सुख दुखका अनुभव करने वाला, जानने देखने वाला जीव अपने २ मानसिक प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है और नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा अनुभव में आने वाला दृश्यमान पुद्गल द्रव्य भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष से प्रगट होरहा है। इनके सिवाय अब चार द्रव्य शेष रह जाते हैं। उनकी सिद्धि इस ढगसे होती है कि प्रत्येक कार्य के लिये उपादान और निमित्त कारणों के होनेकी आवश्यकता है। जीवमे यदि देखने की उपादानशक्ति विद्यमान है तो प्रकाश तथा दृश्यमान (दीखने योग्य) पदार्थों की भी जोकि देखने के (नेत्रज्ञान के) निमित्त कारण है, आवश्यकता है। अथवा प्रकाश आदि निमित्त कारण विद्यमान है तो उनके परिज्ञान के लिये जीवमें भी उपादान शक्ति होना जरूरी है। जिस समय ये उपादान और निमित्त कारण मिल जाते है उसी समय जीव को चराचर पदार्थों के देखने का ज्ञान होता है अन्यथा नहीं। तदनुसार हमको जीव पुद्गल द्रव्य के विषय में चार विशेष बातें दीख पड़ती हैं, जिनके कि होने के लिये चार निमित्त कारणों की आवश्यकता है। एक तो "यहाँ वहां कहां आदिरूप" दूसरे "अब, तब, जब, कब" आदिरूप। तीसरे-चलते, गिरते, पड़ते, हिलते आदिरूप।

चौथे—स्थिर, ठहरे, बैठे, आदि रूप। इन चार बातों में ही समस्त विषय जो कि जीव पुद्गलों की बाबत मालूम होता रहता है आ जाता है कुछ भी शेष नहीं रहता।

अब कि उपर्युक्त ४ बातों के लिये निमित्त कारणों का विचार करते हैं तब प्रथम बात के विषय में अनुसन्धान से लगता है कि इसके लिये आकाश द्रव्य की आवश्यकता है। क्योंकि यहां वहां कहां जहां इत्यादि शब्दों का व्यवहार और ज्ञान रहने के स्थान से सम्बन्ध रखता है। इस कारण इस लिये वही निमित्त कारण हो सकता है जो कि पदार्थों को रहने का स्थान दे। रहने का स्थान आकाश द्रव्य देता है, क्योंकि सभी पदार्थ उसके अन्दर रह रहे हैं। जहां देखो वहीं पर आकाश है; ऊपर नीचे इधर उधर जहा कहीं भी पदार्थ दीख पड़ते हैं उसके बाहर भीतर सब तरफ आकाश ही आकाश दीख पडता है। अतः सिद्ध होता है कि आकाश द्रव्य का होना आवश्यक है और वह सब पदार्थों को रहने के लिये स्थान देने रूप मे पोल रूप से सर्वत्र विद्यमान भी है। वह सर्वव्यापक है क्योंकि सर्वत्र पाया जाता है और अमूर्तिक है क्योंकि दीख नहीं पडता। उसी आकाश में कल्पना रूप यहां वहां आदि व्यवहार होते हैं।

दूसरी बात हम को कालद्रव्य की आवश्यकता बतलाती है; क्योंकि अब कब जब तब आदि व्यवहार यद्यपि मिनट

घण्टे दिन महीने वर्ष आदि के निमित्त से होते हैं, किन्तु जिस समय विचार किया जाय उस समय मालूम पड़ेगा कि दिन आदि की कल्पना के लिये किसी मुख्य पदार्थ की आवश्यकता है। क्योंकि जैसे सच्चा सिंह यदि जङ्गल मे होता है तो मिट्टी का भी सिंह बनता है। यदि सिंह कोई पदार्थ ही न हो तो सिंह नामधारी मिट्टी का खिलौना भी कैसे बने। तदनुसार काल कोई द्रव्य है तो हम उसे अपनी कल्पना से घड़ी घण्टा पक्ष मास आदि के व्यवहार मे ला सकते हैं अन्यथा नहीं। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक पदार्थ नवीन से पुराना होता है। इस अवस्था पलटने में यद्यपि उन पदार्थों की अन्दरूनी शक्ति उपादान कारण है, किन्तु पलटाने वाला कोई बाहिरी निमित्त कारण भी चाहिये, तदनुसार कालद्रव्य सिद्ध होता है। यह भी सर्वत्र खण्डरूप से भरा हुआ है; क्योंकि सर्वत्र इसकी आवश्यकता है और दीख न पडने से अमूर्तिक भी है। इसी के आश्रय से अब तब आदि व्यवहार हुआ करते हैं।

तीसरी बात से धर्म द्रव्य की आवश्यकता ज्ञान पड़ती है, क्योंकि पदार्थ यद्यपि हलन चलन में अपनी निजी शक्ति का भी उपयोग करते है, किन्तु उनके लिये बाहिरी निमित्त कारण होना भी परमावश्यक है। पृथ्वी आदि इस कार्य के लिये पर्याप्त नहीं, क्योंकि जहां पर पृथ्वी नहीं है वहां पर भी (आस्मान में) जीव पुद्गल आदि का हलन चलन आना जाना आदि किया

दीख पड़ती है। कदाचित् आकाश द्रव्य से ही इसके लिये आशा करें सो भी नहीं, क्योंकि वह तो पदार्थों को स्थान देने में विश्वव्यापी बना हुआ है। इस कारण पदार्थों की क्रिया में सहायक नहीं हो सकता। अतः पदार्थों की हलन चलन आदि क्रिया में सहायक धर्मद्रव्य सिद्ध होता है जो कि सर्व-व्यापक अमूर्तिक है। उसी के निमित्त से आना जाना उतरना चढ़ना गिरना पड़ना हिलना डुलना आदि क्रियाएं होती हैं।

चौथी बात का निमित्त कारण अधर्मद्रव्य है, क्योंकि पदार्थों की हलन चलनादि क्रिया में जिस तरह धर्मद्रव्य की आवश्यकता है, उसी तरह पदार्थों की स्थिरदशा विश्रामदशा यानी ठहरने का सहायक निमित्त कारण आवश्यक दीखता है। इस सहायता के लिये विश्वव्यापक रूप से कोई तैयार नहीं है। एक स्थान में परस्पर विरुद्ध दो बातें हो नहीं सकती हैं; अतः पदार्थों के स्थिर रखने का निमित्त धर्मद्रव्य भी नहीं हो सकता इस कारण अन्त में जाकर एक अन्य द्रव्य की सिद्धि होती है जिस का नाम जैनदर्शन में अधर्म बतलाया गया है। यह भी सर्वव्यापक अमूर्तिक है। ये दोनों धर्म, अधर्म द्रव्य किसी को हठात् चलाते ठहराते नहीं हैं, किन्तु चलते ठहरते पदार्थ को केवल इस प्रकार सहायक होते हैं जिस तरह जल मछली के लिये होता है। बैठना, स्थिर रहना ठहरना लेटना आदि क्रिया रहित दशाएं अधर्मद्रव्य की सहायता से होती हैं।

इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल,

ये छह द्रव्य सिद्ध होते हैं। इनके कम करने में निमित्त कारणों की आवश्यकता शेष रहती है। अधिक मानने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। अतः छह द्रव्य ही सिद्ध होते हैं।

स्वामी जी जैसे अन्य विषयों में बिना समझे बूझे कूद पड़े हैं, उसी प्रकार उन्हों ने यहां भी किया है, जो कि उनको हंसी कराता है। सत्यार्थप्रकाश का ४३६ वां पृष्ठ देखिये—वहां आप लिखते हैं कि "जैनियों का मानना ठीक नहीं, क्योंकि धर्माधर्म द्रव्य नहीं किन्तु गुण हैं। ये दोनों जीवास्तिकाय में आ जाते हैं इसी लिये आकाश परमाणु जीव और काल मानते तो ठीक था और जो नवद्रव्य वैशेषिक ने माने हैं वे ही ठीकहैं, क्योंकि पृथिव्यादि पांच तत्व,काल, दिशा आत्मा और मन ये नव पदार्थ पृथक २ निश्चित हैं। एक जीव को चेतन मान कर ईश्वर को न मानना यह जैन बौद्धों की मिथ्या पक्षपात की बात है"।

स्वामी जी जैनदर्शन की समालोचना करने तो चले किन्तु इतना नहीं समझ पाये कि जैनधर्म ईश्वर को मानता

है या नहीं ? जैनियों के प्रसिद्ध मन्दिरों को देख कर भी जो आपको इस विषय का बोध नहीं हुआ, यह अनभिज्ञता स्वामी जी का उपहास कराती है। इसी तरह धर्म अधर्म द्रव्य को आप पुण्य पाप समझ बैठे हैं और बिना पूछे ताछे फैसला लिख बैठे हैं। समालोचना करने के पहले आपको किसी जैन विद्वान से धर्म अधर्म द्रव्य का स्वरूप मालूम कर लेना था। खैर! उन्होंने जैसी शीघ्रता की, वैसी ही हास्यजनक सफलता पाई। सांख्य नैयायिक वैशेषिक आदि षट दर्शन परस्पर बहुत विरुद्ध हैं। कोई भी विद्वान् इनमें से एक ही दर्शन का मानने वाला बन सकता है। किन्तु स्वामी जी छहों दर्शनों को एक साथ मानने वाले हुए हैं, जिनसे कि कोई बात किसी दर्शन की पकड़ी और कोई किसी की। कुछ भाग किसी दर्शन का छोड़ा, कुछ किसी दर्शन का। कहीं पर सांख्यदर्शन के २५ तत्व माने हैं तो कहीं नैयायिक के माने हुये पदार्थों की पीठ ठोंकी है। यहां पर वैशेषिक के ९ द्रव्यों को स्वीकार कर गये हैं। इस प्रकार आपने निश्चित रूप से किसी एक दर्शन का अनुसरण नहीं किया। प्रसंगवश हम आपके इस सिद्धान्त पर विचार करते हैं कि आपके लिखे अनुसार वैशेषिक मत के ९ द्रव्य ठीक हैं या नहीं?

वैशेषिक दर्शन ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन, ये ९ द्रव्य माने हैं। इनमें से प्रथम ही दिशा नामक द्रव्य की जब परीक्षा करते हैं, तब वह

कुछ भी चीज नहीं ठहरता। क्योंकि सूर्य के उदय अस्त आदि के निमित्त से आकाश मे जो पूर्व पश्चिम आदि की कल्पना है उसे दिशा कहते हैं सो आकाश रूप ही है। वह केवल व्यवहार के लिये कल्पना रूप है। जैसे देहली नगर के स्थान को भिन्न भिन्न स्थानों की अपेक्षा भिन्न २ दिशा में कह सकते हैं, यदि वह मथुरा से पश्चिम दिशा मे है तो लाहौर से पूर्व में है। यह आकाश के भीतर ही एक कल्पित बात है, स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है।

इसी प्रकार मन भी कोई स्वतन्त्र भिन्न द्रव्य नहीं है वह आत्मा मे अन्तर्भूत है। जीव के पदार्थ ज्ञान मे कारणभूत जैसे अन्य नेत्र नासिका आदि इन्द्रियां हैं उसी तरह मन है। जीव से भिन्न कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं। जैसे अन्य इन्द्रियां स्वतन्त्र द्रव्य न मानी जाकर जीव के भीतर अन्तर्भूत मानी जाती हैं, उसी प्रकार मन को होना चाहिये; क्योंकि यह भी ज्ञान का अन्तरङ्ग (भीतरी) इन्द्रियरूप साधन है।

पृथिवी, जल, अग्नि, और वायु ये चार द्रव्य जैन दर्शन द्वारा माने हुए एक पुद्गल द्रव्य रूप हैं क्योंकि ये पुद्गल परमाणुओं मे ही बने हुए हैं। वैशेषिक ने जो इन चार द्रव्यों के लिये पृथक पृथक चार प्रकार के परमाणु माने है सो ठीक नहीं है; क्योंकि हम देखते हैं कि परमाणुओं को जहां जैसा संयोग मिलता है वहां वे वैसे ही

परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे कि लकडी पार्थिव द्रव्य है किन्तु दियासलाई के संयोग से वही पार्थिवरूप छोड कर अग्निरूप हो जाती है। दीपक अग्निरूप है, किन्तु उसी का काजल पार्थिवरूप होता है। जलीयबिन्दु सीप मे गिर कर मोतीरूप में पार्थिव हो जाता है। इस कारण कोई ऐसा नियम नहीं कि परमाणु पार्थिव जलीय आदि चार जाति के हों और वे अपनी जाति के पदार्थ के ही उत्पादक हों। परमाणु जो कि पुद्गल के सब से छोटे टुकड़े कहलाते हैं भिन्न भिन्न निमित्त पाने पर भिन्न भिन्न हो जाते हैं। अन्धकार क्या चीज है इसका उत्तर वैशेषिक दर्शन में कुछ नहीं (प्रकाश का अभाव कुछ चीज ही नहीं; तब वह प्रत्यक्ष दीखते हुए पदार्थ का उत्तर भी कैसे हो सकता है)। इसके लिये जैनदर्शन का उत्तर ठीक बैठता है कि अन्धकार पुद्गल की ही एक विशेष हालत है, जो कि सूर्य का सम्बन्ध हटने पर परमाणुओं में काला रङ्ग पलटने पर प्रगट होती है। इस तरह वैशेषिक के प्रथम चार द्रव्य भी ठीक नहीं है।

आकाश यद्यपि द्रव्य है किन्तु वैशेषिक दर्शन के माने अनुसार शब्द गुण वाला नहीं है, क्योंकि शब्द गुण नहीं है, किन्तु पुद्गल द्रव्यरूप है जो कि यन्त्रों की पकड में आ जाता है। शब्द का आघात प्रतिघात होता है, तोप आदि के भयङ्कर भारी शब्द से मकान टूट जाते हैं, कानों के पर्दे फट जाते हैं, स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं, इस कारण सिद्ध होता है कि शब्द परमाणुओं का

पुंजरूप है। यदि ऐसा न हो तो शब्द टेलीफोन आदि के द्वारा एक स्थान से हजारों मील दूर पर नहीं पहुँच सकता। आकाश अमूर्तिक पदार्थ है उसका गुण इन्द्रिय गोचर नहीं हो सकता है। शब्द कानों से सुना जाता है, इस कारण सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का गुण नहीं है। साइन्स भी शब्द को पुद्गल परमाणुओं की एक प्रकार की हालत बतलाती है। इस कारण सारांश यह है कि वैशेषिक मतानुसार जो स्वामी जी ने ६ द्रव्य बतलाये हैं वे प्रमाण बाधित हैं, ठीक नहीं है।

इस प्रकार जैनधर्म का यह अतिसंक्षिप्त आशय है। विस्तार भय से हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं; फैलाते नहीं; जैनधर्म का विशेष परिचय प्राप्त करने के लिये सर्व विज्ञ-सत्पुरुषों से निवेदन करते हैं कि जैन ग्रन्थों का प्रेम से अव-लोकन करें।

[२४]

सत्यार्थप्रकाश का झूठा नकली रूप

यद्यपि हमने सोलहवें एडीशन वाले सत्यार्थप्रकाश को सामने रख कर यह सब कुछ लिखा है, किन्तु वास्तव में यदि देखा जावे तो सन् १८७५ मे जो प्रथम बार सत्यार्थप्रकाश छपा था, वह ही स्वामी दयानन्द जी का बनाया हुआ सत्यार्थप्रकाश था जिसको कि पूर्णतया वे राजा जयकृष्णदास सी० एस० आई० को बेच चुके थे। तदनुसार वे उसमें कुछ भी नया फेर-

फार नहीं कर सकते थे और न स्वामी जी के जीवन समय में दूसरा सत्यार्थप्रकाश छपा ही था। उनके स्वर्गवास हो जाने पर आर्यसमाज ने उस असली सत्यार्थप्रकाश में बहुत कुछ घटा बढ़ाकर दूसरा सत्यार्थप्रकाश छपा था।

जब कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम एडीशन में जैनधर्म की समालोचना केवल १२ पृष्ठ में की थी, तब बढ़ाते बढ़ाते इस सोलहवीं बार छपाये हुए सत्यार्थप्रकाश के ५५ पृष्ठों मे जैनधर्म की समालोचना की है। इस कारण यों समझना चाहिये कि हमने यह उत्तर स्वामी दयानन्द जी के साथ साथ आर्यसमाज द्वारा लिखे हुए नकली सत्यार्थप्रकाश के मुकाबिले में लिखा है। सभ्यता के हामी आर्यसमाज ने अन्य दूसरे परिवर्त्तन करते हुए भी अपमान सूचक असभ्य शब्दों का ज़रा भी सुधार नहीं किया है; यह बात उस के लिये शोभा देती है। इसके उत्तर में हम स्वामी जी के नकली 'परमहंस' 'परिव्राजकाचार्य' आदि उपाधियों पर सच्ची समालोचना करना उचित न समझ कर इस बात को यों ही छोड़े देते हैं।

किन्तु असली नकली सत्यार्थप्रकाश के विषय में अंबाला निवासी श्रीमान वेद विद्याविशारद पं० मंगलसेन जी जैन के लिखे हुए लेख को नीचे देते हैं सो आप ध्यान से अवलोकन करें—

असली सत्यार्थप्रकाश कौन सा है ?

दो व्यक्तियों का सम्वाद।

प्रेमचन्द—मैं सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में कुछ पूछना चाहता हूं, आज्ञा हो तो निवेदन करूं ?

जिनदास—खुशी के साथ पूंछिये।

प्रेमचन्द—सत्यार्थप्रकाश की अब तक कितनी एडीशनें छप चुकी हैं ?

जिनदास—मेरे देखने मे २१ तक आई हैं।

प्रेमचन्द—क्या इन सब का पाठ एक सा ही है ?

जिनदास—नहीं।

प्रेमचन्द—यह पाठ भेद कहां से प्रारम्भ हुआ ?

जिनदास—द्वितीय एडीशन से ही।

प्रेमचन्द—द्वितीय एडीशन भी तो स्वामी दयानन्द जी की बनाई हुई है ?

जिनदास—नहीं क्योंकि द्वितीय एडीशन उनके देहान्त के पश्चात् छपी है।

प्रेमचन्द—स्वामी जी का देहान्त कब हुआ ?

जिनदास—स्वामी दयानन्द जी का देहान्त सन् १८८३ ई० में हुआ।

प्रेमचन्द—द्वितीय एडीशन कब छपी ?

जिनदास—द्वितीय एडीशन के मुख पृष्ठ पर स्वयं सन् १८८४ ई० छपा है।

प्रेमचन्द्—द्वितीय ऐडीशन को हम तो स्वामी जी का ही रचित जानते हैं ?

जिनदास—कैसे ?

प्रेमचन्द—देखिये पांचवीं आवृत्ति की भूमिका में लिखा है कि यह आवृत्ति प्रथम समुल्लास से १२ वें समुल्लास के अन्त तक नीचे लिखी प्रतियों से मिलाई गई है। पहली लिखी हुई दोनों असली कापियें इति।

जिनदास—सत्यार्थप्रकाश की प्रथम ऐडीशन तो स्वामी जी की रचित है द्वितीय नहीं।

प्रेमचन्द—कैसे ?

जिनदास—द्वितीय बार छपनेको, आज्ञा लिये बिना स्वामी जी को इसके शोधन करने और छपाने का अधिकार कहां था ?

प्रेमचन्द्—आज्ञा लेने की आवश्यकता क्या ?

जिनदास—रचना वा मुद्रित कराने का अधिकार स्वामी जी ने राजा जयकृष्णदास जी को कानून २० सन् १८४७ ई० के अनुसार रजिष्ट्री करा दिया था।

प्रेमचन्द्—आपको कैसे मालूम हुआ ?

जिनदास—प्रमाण से।

प्रेमचन्द्—कहां लिखा है ?

जिनदास—देखिये प्रथम बारके सत्यार्थप्रकाश के टाइटिल पेज के अन्दर लिखा है कि—

"१—यह पुस्तक श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मेरे

व्यय (खर्च) से रची है और मेरे ही व्यय से मुद्रित हुई है। उक्त स्वामी जी ने इसका रचनाधिकार मुझ को दे दिया है और उसका मैं अधिष्ठाता हू और मेरी ओर से इस पुस्तक की रजिष्ट्री कानून २० सन् १८४७ ई० के अनुसार हुई है। सिवाय मेरे वा मेरी आज्ञा के इस पुस्तक के छापने का किसी को अधिकार नहीं है।

द: श्री राजा जयकृष्णदास बहादुर सी. एस. आई.

२—जिस पुस्तक के आदि और अन्त में मेरे हस्ताक्षर और मोहर नहीं, वह चोरी की है और उसका क्रय विक्रय नहीं हो सकता। द: श्री राजा जयकृष्णदास

सी. एस. आई. (उर्दू)

प्रेमचन्द—अच्छा। हमें अधिकार नहीं है ऐसा स्वामी जी ने भी किसी पत्र में लिखा है?

जिनदास—हां लिखा है।

प्रेमचन्द—कहां लिखा है?

जिनदास—देखिये ला० ठाकुरदास गुजरानवाला ने ता० १३ जून सन् १८८२ ई० को द्वादश वें समुल्लास में लिखित चार्वाक मत के श्लोकों के सम्बन्ध में मि० स्मिथ एण्ड फियर हाईकोर्ट के सालिसिटर की मारफत नोटिस दिया था; उस का उत्तर स्वामी जी ने ता० १९ जून सन् १८८२ ई० को मिस्टर पेनी एण्ड गिल्बर्ट द्वारा जो नोटिस दिया है उस में लिखा है।

प्रेमचन्द—क्या लिखा है ?

जिनदास—जरा ध्यान देकर सुनिये—मिस्टर स्मिथ एण्ड फ़िशर ला० ठाकुरदास के अटरनी को विदित हो कि आप का ता० १३ जून सन् १८८२ का लिखा नोटिस जो आपने स्वामी दयानन्द सरस्वती के पास भेजा था सो उनके द्वारा हमारे पास पहुंचा और उनके कथनानुसार आप को यह उत्तर लिखा जाता है कि तुम जो कहते हो कि यह श्लोक जैन के कौन से ग्रन्थ के हैं ? सो हमारे मवक्किल स्वामी दयानन्द सरस्वती यह समझ रहे हैं कि जैनमत के किसी विद्वान के रचित ही यह श्लोक हैं और जैनधर्म की अनेक शाखा प्रतिशाखा है जिनमें से किसी के रचित यह श्लोक होंगे। हमारे मवक्किल का यह अभिप्राय नहीं है कि किसी मनुष्य का उसके धर्म सम्बन्ध मे दिल दुखायें, किन्तु सत्यार्थप्रकाश करने का यह ही विशेष तात्पर्य है। इसी लिये तुम्हारा मवक्किल या कोई दूसरा जैनी हमारे मवक्किल को यह सिद्ध कर देगा कि पूर्वोक्त श्लोक जैनधर्म से विरुद्ध हैं तो सत्यार्थप्रकाश पुस्तक के छपाने वाले राजा जयकृष्णदास सी० एस० आई० मुरादाबाद निवासी दूसरी बार छपने के समय उन श्लोकों को पृथक कर देवेंगे। इसमें हमारे मवक्किल को कुछ उजर नहीं है और हमारा मवक्किल यह भी कहता है कि आपके मवक्किल को पुस्तक सत्यार्थप्रकाश के टाइटिल पेज और राजा जयकृष्णदास के दिये विज्ञापनों को देखना चाहिये, जिनके लेखों से स्पष्ट सिद्ध है कि उक्त पुस्तक सम्बन्धी छपाने बेचने शुद्धाऽशुद्ध

आदि करने के सम्पूर्ण अधिकार उक्त राजा साहब ही ने स्वतः लिये है । इस लिये पुनः छपवाना या न छपवाना सब उनके ही अधिकार में है।

नोट—ऐसा लिखने मे स्वामी जी का यह अभिप्राय है कि सत्यार्थप्रकाश से हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । जो कुछ भी है राजा जयकृष्णदास का है—फिर स्वामी दयानन्द जी को शोधन करने और मुद्रित कराने का अधिकार कैसे और कहां से मिला इसका कुछ भी सबूत नहीं । और उक्त चिट्ठी की नकल अंग्रेजी में दयानन्द मुख चपेटिका नामक पुस्तक में ज्यों की त्यों छपी है।

प्रेमचन्द—प्रथमवार के सत्यार्थप्रकाश की ही असली कापी स्वामी दयानन्द जी की लिखी है—द्वितीय एडीशन को नहीं—इसमें अन्य विद्वानों की क्या सम्मति है ?

जिनदास—देखो पण्डित अखिलानन्द जी शर्मा अपने रचित सत्यार्थप्रकाशालोचन पृष्ठ ६ में लिखते हैं कि—साधारण मनुष्य जो इस के असली भेद से परिचित नहीं है कि असली कापी कौन सी है, यहां आकर धोका खा जाते हैं । इस लिये इस उलझन का सुलझना भी अत्यावश्यक है । सत्यार्थ-प्रकाश की हस्तलिखित दो कापियां हैं । उनमे पहली १८७५ वाली है जो दयानन्द ने अपने हाथ से लिखी है। दूसरी उनके मरने के बाद प्रयाग मे कई मनुष्यों ने मिल कर लिखी है, जिसकी सूचना वेदप्रकाश के लेख से हम को मिलती है। इन

दोनों कापियों में दूसरी प्रयाग वाली बड़े २ करतबों से भरी है दयानन्द के नाम से उसमें हस्ताक्षर किये गये हैं और तारीख भी चतुरता से बनाई गई है। जो मनुष्य इस भेद से परिचित नहीं है उनसे समाजी कहते हैं कि दोनों प्रतियां (कापियां) दयानन्द की ही लिखी हैं; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

प्रेमचन्द—क्या इस विषय में और भी कोई सम्मति है?

जिनदास—हाँ है।

प्रेमचन्द—अच्छा, बतलाइये।

जिनदास—देखिये श्री हरिद्वार पातञ्जलाश्रम निवासी स्वामी तेजोनाथ जी रचित भक्ष्यनिर्णयभास्कर पृष्ठ १५ में लिखा है कि जो सत्यार्थप्रकाश स्वामी जी ने रच कर सम्वत् १९३२ सन् १८७५ ई० में राजा जयकृष्णदास द्वारा बनारस में छपवाया था वह ही प्रथमावृत्ति छपा। सत्यार्थ प्रकाश स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का बनाया हुआ मानने योग्य है; क्योंकि फिर सम्वत् १९४० कार्तिक वदी १५ तदनुसार ई० १८८३ अक्टूबर तारीख ३० में स्वामी जी परलोकगामी हो गये तब तक द्वितीय बार का सत्यार्थप्रकाश नहीं छपा और जो स्वामी जी के परलोक गमन से पीछे सन् १८८४ से लेकर द्वितीयावृत्ति प्रभृति सत्यार्थ-प्रकाश समाजी भ्रातृजनों ने छपवाये हैं वह स्वामी दयानन्द जी के रचित मानने योग्य नहीं; क्योंकि स्वामी जी के छपवाये प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश से पीछे छपे सत्यार्थप्रकाश में बहुत पाठ समाजी भाइयों ने कहीं न्यून और कहीं अधिक कर दिया

है। कहीं अदल बदल कर डाला है।

प्रेमचन्द्—प्रथम एडीशन से द्वितीय में क्या कुछ अधिक छपा दिया है?

जिनदास—हां।

प्रेमचन्द्—क्या छपाया है?

जिनदास—देखिये स्वामी दयानन्द जी के समक्ष में जो सत्यार्थप्रकाश सन् १८७५ ई० में छपा था, उस मे भूमिका नहीं है। केवल शुद्धाशुद्ध पत्र और विषयानुक्रम देकर ही ग्रन्थ का आरम्भ है। और बारहवें समुल्लास तक ग्रन्थ पूर्ण हो गया है। बाकी कुछ नहीं है। और स्वामी जी के मरने के बाद सन् १८८४ ई० में जो दूसरा संस्करण छपा है उसमे भूमिका बना कर जोड दी गई है। भूमिका से पहले मन्त्री प्रबन्धकर्त्री सभा का नोटिस है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में १३-१४ वें दो समुल्लास और जोड दिये गये है और दयानन्द के नाम से बना कर स्वमंतव्यामंतव्य भी लगाया गया है। पृ० ७।

प्रेमचन्द्—अच्छा तेरहवें समुल्लास में क्या विषय है?

जिनदास—बाइबिल का।

प्रेमचन्द्—बाइबिल का पूर्वपक्ष रख कर जो उत्तरपक्ष मे खण्डन किया है सो क्या स्वामी जी अंग्रेजी भाषा पढ़े थे?

जिनदास—नहीं।

प्रेमचन्द्—स्वामी जी कौन सी भाषा जानते थे?

जिनदास—गुजराती या संस्कृत।

प्रेमचन्द—यह आपने कैसे जाना ?

जिनदास—प्रमाण से ।

प्रेमचन्द—अच्छा उसको बतलाइये ।

जिनदास—देखिये—द्वितीय एडीशन की भूमिका में लिखा है कि "जिस समय मैं ने यह ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझे इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था ।" तब अंग्रेजी का तो कहना ही क्या ? ।

प्रेमचन्द—चौदहवें समुल्लास में विषय क्या है ?

जिनदास—कुरान का ।

प्रेमचन्द—कुरान का पूर्व पक्ष रख कर उत्तरपक्ष में जो खण्डन किया गया सो क्या स्वामी जी अरबी भाषा जानते थे ?

जिनदास—नहीं ।

नोट—कैसे आश्चर्य की बात है कि खण्डन लिखे कोई और नाम छपाये स्वामी दयानन्द का । बलिहारी इस सत्य की ।

प्रेमचन्द—अच्छा ! प्रथम एडीशन से द्वितीय में अधिक रद्दो-बदल कहां किया गया है ।

जिनदास—द्वादशवें समुल्लास में ।

प्रेमचन्द—क्या किया है ?

जिनदास—प्रथम एडीशन का द्वादशवां समुल्लास पृष्ठ

३९६ से प्रारम्भ है और ४०७ पर समाप्त हुआ है। इसमें दि० व श्वेताम्बर किसी शाखा के ग्रन्थ का कोई प्रमाण नहीं है। केवल निराधार ही जैनियों पर कटाक्ष किया है और स्वामी दयानन्द जी ने विजयातरङ्ग में आकर चार्वाक मत के श्लोको को जैनियों के नाम से छपा दिया है।

और द्वितीय एडीशन का द्वादशवां समुल्लास पृष्ठ ३९५ भूमिका से प्रारम्भ हुआ है और ४६१ पर समाप्त हुआ है और प्रथम एडीशन के द्वादशवें समुल्लास में जो चार्वाक मत के श्लोक जैनियों के नाम से छपाये थे, इसमें उन श्लोकों को चार्वाक मत के नाम से ही प्रकाशित किया है और षष्टि शतक आदि श्वेताम्बर शाखा के ग्रन्थों की प्राकृत गाथाएं लिख कर मूल के विरुद्ध आशय प्रकट किया है और वेदादि ग्रन्थो के विरुद्ध समीक्षा की है। परन्तु दिगम्बर शाखा का इस द्वितीय एडीशन में भी कोई प्रमाण नहीं है।

प्रेमचन्द—अच्छा! स्वामी जी प्राकृत भाषा जानते थे?

जिनदास—नहीं।

प्रेमचन्द—कैसे जाना?

जिनदास—प्रमाण द्वारा।

प्रेमचन्द—उसे बतलाइये।

जिनदास—सुनिये—देखो पण्डित अखिलानन्द जी शर्मा अपने रचित सत्यार्थप्रकाशालोचन पृष्ठ २१६ मे लिखते हैं कि दयानन्द को प्राकृत भाषा का परिज्ञान बिलकुल नहीं था। जैनों

के ग्रन्थों में प्रायः प्राकृत पद्य ही अधिक होते हैं। प्रकरण रत्नाकर-रत्नसार भाग आदि जैनग्रन्थ केवल प्राकृतमय हैं। वररुचि प्रणीत प्राकृतप्रकाश के बिना पढ़े इसका परिज्ञान नहीं होता है। दयानन्द इससे बिलकुल शून्य थे। इसलिये यह समुल्लास अन्य प्रणीत मालूम होता है।

नोट—जो बात असत्य होती है, उसमें सन्देह हो ही जाता है। इसी कारण पण्डित अखिलानन्द जी ने साफ़ लिख दिया है कि यह समुल्लास अन्य प्रणीत मालूम होता है।

प्रेमचन्द—अच्छा! प्रथम एडीशन के सम्बन्ध में स्वामी जी का कोई नोटिस भी छपा है।

जिनदास—हां।

प्रेमचन्द—उसमें प्रथम एडीशन को क्या खारिज कर दिया है?

जिनदास—नहीं।

प्रेमचन्द—उसमें किस का निषेध किया है?

जिनदास—मृतक श्राद्ध का।

प्रेमचन्द—ऐसा कहां लिखा है?

जिनदास—देखिये—सत्यार्थप्रकाशालोचन पृष्ठ ३ में दयानन्द जी ने अपने मत भेद का जो नोटिस दिया है सो इस प्रकार है कि "सबको विदित हो कि जो २ बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं उनको मैं मानता हूं—विरुद्ध बातों को नहीं

इससे जो मेरे बनाये सत्यार्थप्रकाश वा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत से लिखे है वे उन २ ग्रन्थों के मतों को जानने के लिये लिखे हैं। उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध को अप्रमाण मानता हूँ। जो जो बात वेदार्थ से निकलती है उन सब को प्रमाण करता हूं। क्योंकि वेद ईश्वरवाक्य होने से सर्वथा मुझको मान्य है। और जो जो ब्रह्मा जी से लेकर जैमिनी मुनि पर्यन्त महात्माओं के बनाये वेदार्थानुकूल ग्रन्थ है उनको भी मैं साक्षी के समान मानता हूं। और जो सत्यार्थप्रकाश के ४२ वें पृष्ठ की पंक्ति २५ में "पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करें और जितने मर गये है उनका अवश्य करें" इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय मे छप गया है सो लिखने और शोधने वालों की भूल से छप गया है। इत्यादि।

नोट—स्वामी दयानन्द जी का वेदार्थ वही प्रमाण माना जायगा जो वेदाङ्ग वा शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों तथा प्राचीन आचार्यों के वेदभाष्यो के अनुकूल होगा। इसके विरुद्ध कदापि नहीं माना जायगा।

[२५]

सिंहावलोकन

प्रिय मान्यवर मित्रो ! मैं ने आपके सामने जो कुछ भी निवेदन किया है। उसका सार वक्तव्य इस प्रकार है—

१—जैनधर्म मे ईश्वर, जीव, पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग, मोक्ष माने गये है। अतः वह आस्तिक धर्म है, नास्तिक नहीं।

२—ईश्वर एक पवित्र आत्मा है, वह अनन्त शक्तिमान है, सर्वशक्तिमान नहीं; क्योंकि प्रकृतिविरुद्ध कार्यों के करने की शक्तियां उस मे नहीं है। निराकार, अमूर्तिक, सर्वव्यापक यदि ईश्वर माना जाय तो वह मूर्तिक जगत को बनाने वाला नहीं है; क्योंकि अमूर्तिक, सर्वव्यापक पदार्थ से मूर्तिक-पदार्थ को हरकत पहुँचना नियमविरुद्ध है। निर्विकार. पवित्र होने के कारण भी ईश्वर संसार का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है; क्योंकि ये बातें किसी मतलब से राग या द्वेषपूर्वक की जाती है।

३—जीव कर्मों के बन्धन में फंसा हुआ है शराब पी कर अचेत होने वाले मनुष्य के समान जीव कर्मों को प्रायः स्वतन्त्रता से बांध कर उसके वशे मे पड़ कर सुख-दुःख पाता है।

४—वेद अनेक ऋषियों की कविता का संग्रह है। कविता करते समय गाय, भेड़, घोड़ा स्त्री, सूर्य, अग्नि, बालक नदी आदि जो पदार्थ जिस ऋषि को दीख पड़ा, उसी का विषय लेकर कविता बना कर वेद में रख दी या जिस ऋषि को

जो इच्छित कार्य होता उसके सहारे किसी देवता की स्तुति मे कविता रच कर वेद में सम्मिलित कर दी, क्योंकि मूलवेदों से ये सब बातें प्रगट होती है। वेदों मे मांसभक्षण, मदिरापान गोबध, अश्वबध, अजाबध, तथा नरबध आदि पाप कार्यों को कराने वाले मन्त्र है और वे वेद पुस्तक रूप मे है। उनमें अनेक ऋषि, राजाओ का इतिहास लिखा हुआ है। इस लिये उनका रचयिता पवित्र, निराकार ईश्वर नहीं है।

५—जैनधर्म इस भूमण्डल पर बौद्ध धर्म से लाखों वर्ष पहले विद्यमान था। इस कारण तथा बोद्ध धर्म के साथ भारी सिद्धान्त भेद होने के कारण जैन धर्म न तो बौद्ध धर्म की शाखा है और न जैन धर्म व बौद्ध धर्म एक ही हैं।

६—वेदों का निर्माण-प्रारम्भ सम्भवत रामचन्द्र लक्ष्मण के समय में हुआ है, क्योंकि विश्वामित्र ऋषि इसी समय हुये है। इनके पुत्र मधुच्छन्दस ने वेदो का प्रारम्भ किया है। अत. वैदिक धर्मका उत्पत्ति समय यही माना जा सकता है। जैन धर्म इस समय भी था; क्योंकि वेदों के अनेक मन्त्रों में तथा इस समय के बने हुए अनेक ग्रन्थों में जैनतीर्थङ्करों का नाम उल्लिखित है तथा जैन धर्म के जन्मदाता प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथ जी है, वे रामचन्द्र लक्ष्मण से लाखों करोड़ों वर्ष पहले हुए थे, इस कारण जैनधर्म समस्त धर्मो से पुरातन है।

७—मूर्ति का अच्छा या बुरा प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, मूर्ति के सहारे से मनके भाव बिगड़-सुधर जाते हैं। परमात्मा

सरीखी पवित्रता पाने के लिये मुक्तिगामी परमात्मा की मूर्तिका पूजा-सत्कार करने से हृदय पर पवित्रता की छाया पड़ती है। इस कारण मूर्तिपूजन आवश्यक है। परमात्मा के सर्व व्यापकत्व में कोई भी अटल प्रमाण नहीं है।

८—मुक्तिका अर्थ कर्मबन्धन से छूट जाना है; इस कारण कर्मबन्धन तोड़ कर मुक्ति मिलती है। मुक्त अवस्था में ईश्वरके समान सुख, ज्ञान, स्वभाव होजाते हैं। राग-द्वेषादिक विकार न होने से मुक्तजीवको कर्मबन्धन नहीं होता है और बन्धन के बिना वहां से लौटना नहीं हो सकता। जीवों की संख्या अनन्त है, इसलिये मुक्ति पाते रहने पर भी संसार कदापि जीवशून्य नहीं होगा। तथा—वेद, सांख्यदर्शन, निरुक्त आदि ग्रन्थ मुक्ति से वापिस लौट आनेका निषेध करते हैं।

९—जानना जीवका स्वभाव है। उस स्वभाव पर कर्म का परदा पड़ा है। जिस समय वह हट जाता है, जीव पूर्ण ज्ञाता होजाता है। क्योंकि प्रतिबन्ध हट जाने पर पदार्थका स्वभाव पूर्ण प्रगट होजाता है। जैसे-सूर्यका प्रकाश। पुरुष के ज्ञानकी कोई निश्चित सीमा नहीं है; क्योंकि किसी एक मर्यादा तक ज्ञानको निश्चित करने में कोई निश्चल प्रमाण नहीं है। अतः पुरुष अल्पज्ञ से सर्वज्ञ हो सकता है।

१०—भूगोल के सिद्धान्त प्रत्यक्ष देख कर नहीं बने हैं; केवल अनुमान से कल्पित हुये हैं। अतः वे अनिश्चित हैं। यूरोप-

वासी कुछ विद्वान जैनधर्मके कहे अनुसार थाली समान गोल, स्थिर पृथ्वीको तथा सूर्यको भ्रमण करने वाला सिद्ध करने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। वेद भी भूगोल सिद्धान्तका निषेध करते है। अत: जैनधर्म का भूविषयक सिद्धान्त असत्य और भूगोल सिद्धान्त सत्य नहीं कहा जा सकता।

११—पूर्व समय मे मनुष्योका तथा इतर प्राणधारियों का बल-पराक्रम आजकल की अपेक्षा सैकडों हज़ारों गुणा बढा चढा होता था। उनका शरीर और आयु भी बहुत विशाल होती थी। जैन तीर्थकर बहुत प्राचीन समय में हुये है। अतः उनके शरीर और आयुका प्रमाण भी बहुत बडा था। योगदर्शन भी मनुष्यों की दीर्घ आयु-कायका समर्थन करता है।

१२—स्वामी जी संस्कृत के अच्छे विद्वान और बाल-ब्रह्मचारी थे। साथ ही परोपकर्ता अनेक सद्गुण सम्पन्न भी थे। ये बातें वेदभाष्य आदि को देखने से मालूम होती है, किन्तु

"अनंतपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः"

(यानी शब्दभण्डार अपार है, किन्तु मनुष्यकी आयु थोड़ी है। सो भी रोग, शोक, खाने-पीने, सोने आदि विघ्नो से भरी पड़ी है) के अनुसार शीघ्रता मे जैनधर्म से संतोषजनक संक्षेप परिचय भी नहीं पा सके। इस कारण अनभिज्ञतावश उन्हें जैनधम के विषय में असत्य निर्मूल आक्षेप करने तथा उसके सर्व प्राचीन उन्नत गौरव को ढकने का यत्न करना पडा।

१३—स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश में जिस रीति से सृष्टि,

प्रलय, मुक्ति से पुनरागमन. भूगोल आदि विषयों को लिखा है वेद उसका निषेध करते हैं। इस कारण इस विषय में या तो सत्यार्थप्रकाश सत्य हो सकता है या वेद सत्य हो सकते हैं।

१४—'स्याद्वाद' जैनसिद्धान्त का एक ऐसा असाधारण, अकाट्य एवं विशाल सिद्धान्त है जो कि किसी तर्क, युक्ति से खण्डित नहीं हो सकता और जिससे कि समस्त नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि विषयों का विधिपूर्वक समाधान किया जाता है तथा जो दर्शनों की सारी उलझनों को सुलझा देता है।

१५—सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानन्द जी ने अन्य सभी मतावलम्बियों को असभ्य शब्दों में गालियां दी हैं। ऐसा व्यवहार उन्हों ने जैनधर्म के साथ भी किया है। यह बात सत्यार्थ प्रकाश तथा स्वामी दयानन्द जी को मलिन करने वाली है। इस कारण ऐसे असभ्य शब्द सत्यार्थप्रकाश से निकाल देने चाहिये।

सदाकत छिप नहीं सकती,
बनावट के उसूलों से।
कहीं खुशबू है आ सकती,
कहो कागज के फूलों से? ॥

अलमिति प्रज्ञाघनेषु।

—***—

"श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला" की

उपयोगी पुस्तकें

(१) जैनधर्म परिचय —अजितकुमार शास्त्री इसके लेखक है। पृष्ठ संख्या करीब पचास के है। जैनधर्म के साधारण ज्ञानके लिये यह बहुत उपयोगी है। मूल्य केवल -)॥

(२) जैनधर्म नास्तिक मत नहीं है—यह मि० हर्बर्ट वारन के एक अंग्रेजी लेख का अनुवाद है। इसमें जैनधर्म को नास्तिक बतलाने वालों के प्रत्येक आक्षेप का उत्तर लेखक ने बडी योग्यता से दिया है। मूल्य केवल)॥

(३) क्या आर्यसमाजी वेदानुयायी हैं ? इसके लेखक पं० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ है। इसमे लेखक ने आर्यसमाजियों के अनादि पदार्थो के सिद्धान्त, मुक्तिसिद्धान्त ईश्वर को निमित्तकारण और सृष्टिक्रम व ईश्वर स्वरूप को बडी स्पष्ट रीति से वेद विरुद्ध प्रमाणित किया है पृष्ठ संख्या ४४। कागज बढ़िया। मूल्य केवल -)

(४) वेद मीमांसा—यह पं० पुत्तूलाल जी कृत प्रसिद्ध पुस्तक है। पुस्तकमाला ने इसको प्रचारार्थ पुन प्रकाशित किया है। मूल्य छः आने से कम करके केवल =) रक्खा है।

(५) अहिंसा—इसके लेखक पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री धर्माध्यापक स्याद्वाद विद्यालय काशी हैं। लेखक ने बड़ी ही योग्यता से जैनधर्म के अहिंसा सिद्धांत को समझाते हुए उन आक्षेपों का उत्तर दिया है जो कि विधर्मियों की तरफ से जैनियो पर होते है। पृ० संख्या ५२। मूल्य केवल -)॥

(६) श्री ऋषभदेव की उत्पत्ति असंभव नहीं है।—इसके लेखक बा० कामताप्रसाद जी M. R. A. S. है। यह आर्यसमाजियों के "श्री ऋषभदेव जी की उत्पत्ति असम्भव है" ट्रैक्ट का उत्तर है। पृष्ठ सख्या ४८, मूल्य ।)

(७) वेद समालोचना—इसके लेखक पण्डित राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ हैं। लेखक ने इस पुस्तक में, अशरीरी होने से ईश्वर वेदों को नहीं बना सकता; वेदों मे असम्भव बातो का, परस्पर विरुद्ध बातों का, अश्लील, हिंसा विधान, मांसभक्षण समर्थन, असम्बद्ध कथन, इतिहास, व्यर्थ प्रार्थनायें और ईश्वर का अन्य पुरुष से ग्रहण आदि कथन है;. आदि विषयों पर गम्भीर विवेचन किया है। पुस्तक की पृष्ठ संख्या १३४ है। मूल्य केवल ।≈)

(८) आर्यसमाजियों की गप्पाष्टक —लेखक अजितकुमार मुलतान। विषय नाम से प्रगट है। मूल्य)॥

(९) सत्यार्थ दर्पण—प्रस्तुत पुस्तक। मूल्य ।॥)

(१०) आर्यसमाजियों के १०० प्रश्नों का उत्तर—लेखक अजितकुमार जैन शास्त्री। विषय नाम से प्रकट है। पृष्ठ संख्या १००। मूल्य ≥)

(११) क्या वेद भगवद्वाणी है ?—लेखक श्रीयुत सोऽहं शर्मा। विषय नाम से प्रकट है। मूल्य -)

(१२) आर्यसमाज को डबल गप्पाष्टक—इसमें आर्यसमाज की १६ गप्पों का रोचक ढंग से उल्लेख है। मूल्य -)

(१३) दिगम्बरत्व और दि० मुनि—जैनधर्म और दिगम्बर जैन मत का प्राचीन ऐतिहासिक प्रामाणिक इतिहास जीवित लेखनी के साथ विस्तृत रूप से लिखा गया है। जिसमें रंगीन तथा सादे अनेक चित्र हैं। ऐसी पुस्तक जैन समाज में अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। प्रत्येक पुस्तकालय और भण्डार मे रखने योग्य है। ऐसे अपूर्व सचित्र ऐतिहासिक ग्रन्थ की एक प्रति अवश्य मगावें। पृष्ठ संख्या ३५० मू० १)

(१४) आर्यसमाज के ५० प्रश्नों का उत्तर-विषय नाम के अनुसार है। मूल्य ≡)

(१५) जैनधर्म सन्देश—जैनधर्म विषय जानकारी के लिये मनुष्यमात्र को पठनीय है। मूल्य -)

(१६) आर्यभ्रमोन्मूलन—जैनभ्रमोन्मूलनका उत्तर है। मूल्य -)

(१७) लोकमान्य तिलक का जैनधर्म पर व्याख्यान—यह ट्रैक्ट पठनीय है तथा धर्म प्रभावना के लिये अजैन जनता में बांटने योग्य है। मूल्य)॥

(१८) पानीपत शास्त्रार्थ [प्रथम भाग]—जैन समाज और आर्यसमाज का पानीपत में जो ईश्वर-सृष्टिकर्तृत्व विषय पर लिखित शास्त्रार्थ हुआ था वह हूबहू छापा गया है। उभयपक्ष की आधुनिक समयानुसार जो भी प्रबल युक्तियां हो सकती हैं इसमें दी गई हैं। सृष्टि रचना विषय पर जानकारी के लिये अपूर्व पुस्तक है। पृष्ठ संख्या २०० मूल्य ।=)

(१९) पानीपत शास्त्रार्थ (द्वितीय भाग)

जैन समाज तथा आर्य समाज के बीच पानीपत में तीर्थङ्करों की सर्वज्ञतासिद्धि के विषय पर जो लिखित शास्त्रार्थ हुआ था वह ज्यों का त्यों छापा गया है। अल्पज्ञ पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है इस विषय को इस पुस्तक में अकाट्य युक्तियों से सिद्ध किया गया है। पृष्ठ संख्या २०० ॥=)

ये दोनों पुस्तकें प्रत्येक पुस्तकालय में अवश्य रहनी चाहिये।

(२०) स्वामी दयानन्द और वेद-श्रीमान स्वा० कर्मानन्द जी ने जैनधर्म में दीक्षित होने पर सब से पहले यह पुस्तक लिखी थी। पुस्तक पठनीय है। मू० -)

(२१) **वैदिक ऋषिवाद**—ले० श्रीमान स्वामी कर्मानन्द जी। स्वामी जी ने आर्यसमाज में २५ वर्ष रह कर वेदविषयक जो जानकारी प्राप्त की है उसका निचोड़ इसमें रक्खा गया है। वेदों के विषय में यह अपूर्व पुस्तक है। मूल्य ।)

(२२) **सत्तास्वरूप**—स्व० प० भागचन्द्र जी विरचित यह ग्रन्थ पं० टोडरमल जी के ढंग पर लिखा गया है प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को इसका स्वाध्याय करना आवश्यक है। यह ग्रन्थ पहले पहल प्रकाश में आया है। प्रत्येक शास्त्रभण्डार में पं० भागचन्द्र जी की यह कृति रखने योग्य है। मूल्य ।)

मिलने का पता—

भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ,

अम्बाला छावनी।